





# सम्पादक की अन्य रचनाएँ

## ◆ कविता

मस्तिष्क (१९४३)

बन्दी के गान (१९४२)

कांता (१९४१)

## ◆ उपन्यास

दृष्टाब्ज (१९४८)

## ◆ इतिहास तथा जीवनी

हमारा संघर्ष (१९४६)

नेताजी सुभाष (१९४६)

\ कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास (१९४७)

## ◆ संकलन

लाज किले की घोर (१९४६)

गान्धी-भजन-माळा (१९४८)

गल्प-माधुरी (१९४८)

## ◆ निबन्ध

प्रभाकर निबन्धावली (१९४८)

## ◆ प्रेस में

राष्ट्र-लिपि—देवनागरी

अनीता (उपन्यास)

हिन्दी-साहित्य : नये प्रयोग (साजोबना)

भाराधना (कविता)

— (कविता)

राज कमल प्रकाशन दिल्ली





जिनके पावन घरों में बठकर  
मैंने राष्ट्र-भाषा का सक्रिय  
सम्पादन किया, इन्हीं  
पुण्य स्थानों

आचार्य श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ को सादर

## यह संग्रह क्यों ?

स्वतन्त्रता के स्वर्ण-विहान में देश की अन्य आवश्यक समस्याओं की भाँति 'राष्ट्र-भाषा' और 'राष्ट्र-लिपि' की समस्या भी हमारे सामने प्रमुख रूप से उपस्थित है। इस सम्बन्ध में अभी तक अनेक नेताओं, साहित्यिकों एवं भाषा-शास्त्रियों ने सहस्रों सद्व्ययन किये और देश की शक्ति जनता के समक्ष अपने-अपने विचार-सुझाव उपस्थित किये। उनमें से 'राष्ट्र-भाषा' के सम्बन्ध में व्यक्त किये गए भावों का संकलन हममें किया गया है। 'राष्ट्र-लिपि' के सम्बन्ध में प्रकट हुए विचारों का मन्थन हम अपनी शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली दूसरी पुस्तक 'राष्ट्र-लिपि-देवनागरी' में देंगे।

प्रस्तुत पुस्तक को हमने राजनीतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदि सभी दृष्टि-बिन्दुओं से सर्वाङ्गीण बनाने का प्रयत्न किया है। आशा है पाठकों को हमारा यह प्रयास अवश्य रुचेगा। क्योंकि इसका संकलन एवं मुद्रण बहुत ही सीमित समय में हुआ है, अतः इसमें त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। सम्भवतः शीघ्रता में हम इसमें कुछ और महत्त्वपूर्ण विचार न दे सकेंगे, उनके लिए उपयुक्त सुझावों का समुचित स्वागत करेंगे।

अन्त में इस पुस्तक को जिन नेताओं के विचारों, साहित्यिकों के सुझावों और भाषा-शास्त्रियों के भावों से पोषण मिला है, उन सभी के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

भाई टंडन जी,

मेरे पास उर्दू खूब आते हैं, हिन्दी आते हैं और गुजराती । सब पूछते हैं, मैं कैसे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में रह सकता हूँ और हिन्दु-स्थानी सभा में भी ? वे कहते हैं, सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी हो राष्ट्र-भाषा हो सकती है, जिसमें नागरी लिपि ही को राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है, जब मेरी दृष्टि में नागरी और उर्दू-लिपि को स्थान दिया जाता है, और जो भाषा न फारसीमयी है न संस्कृतिमयी है । जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूँ, जब मुझे सम्मेलन में से हट जाना चाहिए । ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है । इस हाजठ में क्या सम्मेलन से हटना मेरा फर्ज नहीं होता है ? ऐसा करने से लोगों को दुविधा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मैं कहां हूँ ।

कृपया शीघ्र उत्तर दें । मीन के कारण मैंने ही लिखा है लेकिन मेरे अक्षर पढ़ने में सब को सुसीकत होती है, इसलिए इसे लिखवा कर भेजता हूँ ।

आपका

—मो० क० गोबी

०

१० कास्पेट रोड, इलाहाबाद

८-१-४६

धूम्र बापूजी, प्रणाम ।

आपका २८ मई का पत्र मुझे मिला । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्थानी-संघ-सभा के कामों में कोई मौखिक विरोध मेरे विचार में नहीं है । आपको स्वयं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सदस्य



हम राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया। वह सब काम तबत था, ऐसा तो आप नहीं मानते होंगे। राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी का प्रचार वांछनीय है। वह तो आपका मिश्रात ही। आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू का प्रचार भी होना चाहिये। यह पहले काम से भिन्न एक नया काम है जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है।

सम्मेलन हिन्दो को राष्ट्र-भाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी को एक शैली मानता है, जो विशिष्ट जगहों में प्रचलित है।

स्वयं वह हिन्दी की साधारण शैली का काम करता है, उर्दू शैली नहीं। आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नहीं करता; किन्तु राष्ट्रीय कामों में अंग्रेजी हटाने में वह उसकी सहायता का स्वागत करता है। मेरा केवल मत है कि आप दोनों चलाते हैं। सम्मेलन आरम्भ से केवल हिन्दी चलाता आया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सदस्यों की हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के सदस्य होने में रोक नहीं है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से निर्वाचित प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी एकेडमी के सदस्य हैं और हिन्दुस्तानी एकेडमी हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों को लिखती चलाती है। इस दृष्टि से मेरा निवेदन है कि मुझे इस बात का कोई अवसर नहीं लगता कि आप सम्मेलन छोड़ें।

एक बात इस संबंध में और भी है। यदि आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तक सदस्य न होते तो सम्भवतः आपके लिए यह ठीक होता कि हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा का काम करते हुए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जाने की आवश्यकता न देखते; परन्तु जब आप इतने समय से सम्मेलन में हैं तब उसका छोड़ना उसी दशा में उचित हो सकता है निर्दिष्ट रीति से उसका काम आपके नए काम के प्रतिष्ठ हो। आपने अपने पहले काम को रखा है और उसमें एक शायद ही विरोध की कोई बात नहीं है।

मुझे जो बात उचित समी ऊपर निवेदन कर दी। किन्तु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आपकी आशय यही कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊँ तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते भी वह मस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूँगा।

हाल में हिन्दी और उर्दू के विषय में एक वक्तव्य देने दिया था, उसकी एक प्रतिलिपि सेवा में भेजता हूँ। निवेदन है कि इसे पढ़ लीजिएगा।

विनीत—

पुरुषोत्तमदास टंडन।

पुनः—इस समय न केवल आप, किन्तु हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के मंत्री श्रीमन्नारायण जी तथा कई अन्य सदस्य सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति के सदस्य हैं। एक स्पष्ट लाभ इससे यह है कि राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के कामों में विरोध न हो सकेगा। कुछ मतभेद होते हुए भी साथ काम करना हमारे निर्यग्रह का अंश होना उचित है।

—पु० दा० टंडन

पंचगनी

१३-६-४६

भाई पुरुषोत्तमदास टंडन जी,

आपका पत्र कल मिला। आप जो लिखते हैं उसे मैं बराबर समझा हूँ तो नहीं। यह होना चाहिए कि आप और सब हिन्दी मेनी मेरे अग्रे दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें। ऐसा होना नहीं है। और गुजरात में लोगों के मन में दुविधा हो गई है। मुझसे पूछ रहे हैं कि क्या करना? मेरे दो भतीजे छद्म और ऐसे दूसरे, हिन्दी का काम कर रहे हैं और हिन्दुस्तानी का भी। इससे मुसीबत पैदा होती है। पेरिन बहन को तो आप जानते ही हैं। वह दोनों काम करना चाहती हैं। लेकिन अब मौका आ गया है कि एक या दूसरे को छोड़ें। आप कहते हैं वह सही है तो ऐसा मौका आना ही नहीं चाहिए। मेरी दृष्टि से एक ही आदमी हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा

और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का मंत्री या प्रमुख बन सकता है। बहुत काम होने के कारण न हो सके तो वह दूसरी बात है; और यह मैं कहता हूँ वही कार्य आपके पत्र का है, और होना चाहिए। तब तो कोई मतभेद का कारण हो नहीं रहता और मुझको बड़ा आनन्द होगा। आपका जो वक्तव्य आपने भेजा है मैं पढ़ गया हूँ। मेरी दृष्टि से हिन्दुस्तानी-प्रचार-समा विद्वत्कुल आप ही का काम कर रही है, इसलिए वह आपके धर्मवाद की पात्र है। और कम-से-कम इसमें आपको सदस्य होना चाहिए। मैंने तो आपसे विनय भी किया कि आप उसके सदस्य बने लेकिन आपने नुस्कार किया है, ऐसा कर-कर कि जब तक काफ़र चम्पुल्ल हफ न करें, तब तक आप भी बाहर रहेंगे। अब मेरी इच्छावास्त यह है कि अगर मैं थोड़ा लिखता हूँ और हम दोनों एक ही विचार-के हैं तो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। अगर इसकी आवश्यकता नहीं है तो मेरा कुछ आग्रह नहीं है। कम-से-कम दोनों में तो हम बारे में मतभेद नहीं है, इतना स्पष्ट होना चाहिए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में से निकलना मेरे लिए कोई मजाक की बात नहीं है। लेकिन जैसे मैं कांग्रेस में से निकला तो कांग्रेस की ज्यादा सेवा करने के लिए, उसी तरह अगर मैं सम्मेलन में से निकला तो भी सम्मेलन की धर्पाई हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए निकलूँगा।

जिसको आप मेरे मने विचार कहते हैं के सचमुच तो मने नहीं है। लेकिन जब मैं सम्मेलन का प्रथम समापति हुआ तब जो कहा था और दोबारा समापति हुआ तब अधिक स्पष्ट किया, वसी विचार-प्रवाद का मैं धर्म। स्पष्ट रूप से धमक कर रहा हूँ, ऐसे कहा जाय। आपका उतर आने पर मैं आतिश का निर्णय का लूँगा।

आपका

—मो० क० गोपी

१० कास्यनेट रोड, इलाहाबाद

पूज्य बापू जी, प्रणाम ।

११-७-४२

आपका पंचगनी से लिखा हुआ १३ जून का पत्र मिला था । उसके तुरन्त बाद ही राजनीतिक परिवर्तनों और आपके पंचगनी से हटने की बात सामने आई । मेरे मन में यह आया था कि राजनीतिक कामों की भीड़ से थोड़ी सुविधा जब आपके पास देखूँ तब मैं लिखूँ । आज ॥ सवेरे मेरे मन में आया कि इस समय आपको कुछ सुविधा होगी । उसके बाद श्री म्यारेलाज जी का २ तारीख का पत्र आज ही मिला, जिसमें उन्होंने सूचना दी है कि आप मेरे उत्तर की राह देख रहे हैं ।

आपने अपने १८ मई के पत्र में मुझसे पूछा था कि—मैं कैसे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में रह सकता हूँ और हि० प्र० सभा में भी ? इस प्रश्न का उत्तर मैंने अपने २८ जून के पत्र में आपको दिया । मेरी बुद्धि में जो काम हि० सा० सम्मेलन कर रहा है उससे आपके आगे काम का कोई विरोध नहीं होता । इस १३ जून के पत्र में आपने एक दूसरे विषय की चर्चा की है । आपने लिखा है कि 'आप और सब हिन्दी-मैत्री मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें' । मैंने मौजिक रीति से आपको स्पष्ट करने का यत्न किया था, और जिस वक्तव्य की नकल मैंने आपको भेजी थी उसमें भी मैंने स्पष्ट किया है कि मैं आपके इस विचार से कि प्रत्येक देशवादी हिन्दी-और उर्दू दोनों सीखें, सहमत नहीं हो पाता । मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं करती कि आपका यह नया कार्यक्रम स्वाभाविक है । मुझे तो दिखाई देता है कि बंगाली, गुजराती, मराठी, उर्दू आदि बोलने वाले इस कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करेंगे ।

हिन्दी और उर्दू का समन्वय ही इस सिद्धान्त में पूरी तरह से मैं आपके साथ हूँ । किन्तु यह समन्वय, जैसा मैंने आपसे सम्बन्ध में चेष्टा किया था और जैसा मैंने वक्तव्य में भी लिखा है, तब ही सम्भव है जब हिन्दी और उर्दू के लेखक और उनकी संस्थाएँ इस प्रश्न



रष्ट्र से मैंने काम किया है। उद्' के विरोध का तो मेरे सामने प्रश्न ही ही नहीं सकता। मैं तो उद्' वालों को भी उम्मी भाषा की और सीखना-बोझना जिसे मैं राष्ट्र-भाषा कहूँ। और उस सीखने की प्रक्रिया में स्वभावतः उद्' वालों का मत लेकर भाषा के स्वरूप-परिवर्तन में भी बहुत दूर तक कुछ निश्चित मिडान के आधार पर जाने को तैयार हूँ। किन्तु अब तक यह काम नहीं होना। तक तक हमी से सन्तोष करता हूँ कि हिन्दी इंग्लिश राष्ट्र के बहुत बड़े घंशों में एकता स्थापित हो।

आपने जिस प्रकार से काम उठाया है वह ऊपर मेरे निवेदन किये हुए क्रम से विस्तृत अलग है। मैं उसका विरोध नहीं करता, किन्तु उसे अपना काम नहीं बना सकता।

आपने गुजरात के लोगों के मन में दुविधा पैदा होने की बात खेची है। यदि ऐसा है तो कृपया विचार करें कि हमका कारण क्या है। मुझे तो यह विश्वास है कि गुजरात के लोगों (तथा अन्य भाषाओं के लोगों) के हृदयों में दोनों लिपियों के सीखने का मिश्रण तो नहीं रहा है। किन्तु आपका व्यक्तित्व इस प्रकार का है कि जब आप कोई बात कहते हैं तो स्वभावतः इच्छा होती है कि उसकी पूर्ति हो जाए। मेरी भी ऐसी ही इच्छा होती है; किन्तु यदि आपके बताने का निरीक्षण करती हूँ और उसे स्वीकार नहीं करती।

आपने पेरिन बहन के बारे में लिखा है। यह सच है कि वह भी काम करना चाहती हैं। उसमें तो कोई बाधा नहीं है। राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्थानी-प्रचार-सभा के कार्यकर्ताओं में शीघ्र न हो और वे एक-दूसरे के कामों को उदारता से देखें—इसमें बाधा सहायक होगी कि हि० प्र० सभा और रा० प्र० समिति का एक-अलग-अलग संस्थाओं द्वारा हो, एक ही संस्था द्वारा न चले। के सदस्य दूसरे के सदस्य हो किन्तु एक ही पदाधिकारी दोनों भाषाओं के हो से व्यावहारिक कठिनाइयाँ और बुद्धि-भेद होगा।

इसलिए पदाधिकारी अलग-अलग हों। आपकी पाद दिव्या है कि इस सिद्धान्त पर आप से सन् ४२ में बाँटे हुई थी अब हिन्दुस्थानी-प्रचार-सभा बनने लगी। उसी समय मैंने निवेदन किया था कि रा० प्र० सभा का मन्त्री एक होना उचित नहीं। आपने इसे स्वीकार भी किया था और अब आपने श्रीमन्नारायणजी के लिए हि० प्र० सभा का मन्त्री बनना आवश्यक बताया अब ही आपकी अनुमति से यह निश्चय हुआ था कि कोई दूसरा व्यक्ति रा० प्र० समिति के मंत्री पद के लिए भेजा जाए। और उसके कुछ दिन बाद आनन्द कौशल्यायन जी भेजे गए थे। यही सिद्धान्त पेरिन बहन के सम्बन्ध में लागू है। जिस प्रकार श्रीमन्नारायण जी हिन्दुस्थानी-प्रचार-सभा के मंत्री होते हुए रा० प्र० समिति के स्वयं रहे हैं, उसी प्रकार पेरिन बहन दोनों संस्थाओं में से एक की मंत्री थीं और दूसरे में भी सुलभ कर काम करें। इसमें तो कोई कठिनाई की बात नहीं है। यही सिद्धान्त सब मामलों के सम्बन्ध में लागेगा। संभवतः श्रीमन्नारायण जी अब सब स्थानों में अर्हो रा० प्र० समिति का काम हो रहा है, हि० प्र० सभा की शाखाएँ खोलने का प्रयत्न करेंगे। उन्होंने रा० प्र० समिति के कुछ पदाधिकारियों से हि० प्र० सभा का काम करने के लिए पत्र-व्यवहार भी किया है। आपस में विरोध न हो इसके लिए यह मार्ग उचित है कि दोनों संस्थाओं की शाखाएँ अलग-अलग हों। और उनके मुख्य पदाधिकारी अलग हों। साथ ही मेरा और समझीता रत्न के लिए दोनों की सदस्यता सबके लिए सुधी रहे यह तो मेरी इति में ऐसा कम है जिसका स्वागत होना चाहिए।

आपने मेरे वक्तव्य की पढ़ने की कृपा की और उससे जानने पर परिणाम निकाला कि हि० प्र० सभा बिल्कुल मेरा ही काम करेगी और मुझे उसका सदस्य होना चाहिए। जानने यह भी बिस्वा कि आपने यह भी बिस्वा कि जानने मुझसे सदस्य होने ॥ किए कहा था किन्तु मैंने यह बहुत ही स्फूर्ति किया कि जब तक सम्बुद्ध हूँ सादर

उसके सदस्य न बनेंगे मैं भी बाहर रहूँगा। यह सब है कि मैं हि० प्र० सभा का सदस्य नहीं बना हूँ। इस सम्बन्ध में सन् ४२ में काका काब्रेकर जी ने मुझसे कहा था और हाल में दा० ताराचन्द ने। आपने बम्बई में पञ्चगामी जाने से पहले एक विचारों में दो पत्र मुझे भेजे थे। उनमें से एक में आपने इस विषय में लिखा था। किन्तु मुझे विचित्र स्मरण नहीं है कि कभी आपने मौखिक रीति से मुझसे हि० प्र० सभा के सदस्य बनने के लिए कहा कि और मैंने अम्बुछ-हड़ साहब का हवाला देकर हँकार किया हो। मुझे लगता है कि आपने एक सुनी हुई बात को आपने सामने हुई बात में स्थिति-भ्रम से परिवर्तित कर दिया है। सन् ४२ में काका जी ने जब जर्जों की उस समय मैंने उनसे मौखिकी अम्बुछहड़ तथा उर्दू बाबों को जाने की बात अवश्य कही थी। तत्पश्चात् मही या दो भाज भी है अर्थात् यह कि जब तक हिन्दी और उर्दू-मेलक हिन्दी उर्दू के सम्बन्ध में शरीक नहीं होते तब तक यह बात सम्भव नहीं हो सकता। हि० प्र० सभा यदि इस काम में कुछ भी सफलता प्राप्त करेगी तो यह अवश्य मेरे सम्बन्ध की पत्नी होगी। आज तो हि० प्र० सभा में शामिल होने में मेरी कठिनाई इसलिये बढ़ गई है कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों को मिटाने के अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों और विधियों को अलग-अलग प्रत्येक देशवासी को सिखाने की बात करती है।

यह तो मैंने आपके पत्र की बातों का उत्तर दिया। मेरा निवेदन है कि इन बातों से यह परिणाम नहीं निकलता कि आप अथवा हि० प्र० सभा के अन्य सदस्य सम्मेलन से अलग हों। सम्मेलन हृदय से आप सबों को अपने भीतर रखना चाहता है। आपके रहने से यह अपना गौरव समझता है। आप आज जो काम करना चाहते हैं वह सम्मेलन का अपना काम नहीं है। किन्तु सम्मेलन जितना करता है वह आपका काम है। अगर उससे अलग जो करना चाहते हैं उसे सम्मेलन में रहते हुए भी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं। —पु० दा० टयटन



आपका ता० ११-७-४२ का पत्र मिला मैंने दो बार पढ़ा । बाद में भाई किशोरीलाल भाई को दिया । वे स्वतंत्र-विचारक हैं आप जानते होंगे । उन्होंने लिखा है तो भी मेजवा हैं । मैं तो इतना ही कहूँगा, जहाँ तक हो सका मैं आपके प्रेम के अधीन रहा हूँ । अब समय आया है कि वही प्रेम मुझे आपसे वियोग करायेगा । मैं मेरी बात नहीं समझ सका हूँ । यही पत्र आप सम्मेलन की स्थायी समिति के पास रखें । मेरा ख्याल है कि सम्मेलन ने मेरी हिन्दी की व्याख्या छपवाई नहीं है । अब तो मेरे विचार इसी दिशा से आगे बढ़े हैं । राष्ट्र-भाषा की मेरी व्याख्या में हिन्दी और उर्दू-लिपि और दोनों शैलियों का ज्ञान आता है । ऐसा होने से ही दोनों का समन्वय होने का है तो हो जायगा । मुझे डर है कि मेरी यह बात सम्मेलन को चुमेगी । इसलिफ़ मेरा हस्तीका कबूल किया जाय । हिन्दुस्थानी प्रचार का कठिन काम करते हुए मैं हिन्दी की सेवा करूँगा और उर्दू की भी ।

आपका—ओ० क० गांधी

०

१० कास्थबेट रोड, इलाहाबाद

पूज्य बापू जी,

१-८-४२

आपका २२ जुलाई का पत्र मिला । मैं आपकी आज्ञा के अनुसार शेरद के साथ आपका पत्र स्थायी समिति के सामने रख दूँगा । मुझे तो जो निवेदन करना था अपने विखुले दो पत्रों में कर चुका ।

आपके पत्र के साथ भाई किशोरीलाल मगरूबाबाजी का पत्र मिला है । उनको मैं अलग उत्तर लिख रहा हूँ । वह इसके साथ है । कृपया उन्हें दे दीजियेगा ।

विनोद—

गुरुप्रीतमदास टवहन

## राष्ट्र-भाषा का स्वरूप

( डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद )

वैद्य में इन दिनों राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का जो विवाद उठ सका हुआ है, उसके सम्बन्ध में भी मैं अपने विचार रखता हूँ। साहित्यिक जो भाषा बोलेंगे, वही भाषा आगे चल सकेगी। जो चीज़ जटिल हिन्दी बचवा जटिल उर्दू में लिखी जावगी, वह आगे चलकर मर जावगी। भाषा में जीव है, जीवन-दान करने की शक्ति है। जिन साहित्य में साथ और सुन्दरता है, वह अवश्य जीवित रहेगा। अच्छी-से-अच्छी भाषा में भी असुन्दर और असाव आँखें बिरस्थाप्यो नहीं हो सकती।

मैं इस विवाद को बढ़ाना नहीं चाहता। जो साहित्यिक हैं और अच्छी-से-अच्छी हिन्दी या उर्दू में अपने भाषों को रख सकते हैं, वे उसी तरह रहें। साथ पर ही भाषा का जीवन निर्भर है। यदि हम सच्चा सुन्दर साहित्य-निर्माण नहीं कर सकते तो भाषा की सारी कोशिश व्यर्थ है।

सम्मेलन जो किया जा रहा है, उसे सोच-समझकर बढ़ाओ। हजरत-उमर की चीज़ों पर ध्यान देकर अपनी और जनता की शक्तियों का हासल करो। १९१० ईस्वी में इब्रति-बाग के समय कुछ लोगों ने महारमा गज़वी से वह अनुरोध किया था कि आप अपने सम्मेलन के समय

एक ऐसा भाषण कीजिए, जिसका रिकार्ड बनाया जाय ताकि देश के कोने-कोने में आसानी से आपके विचारों का प्रचार हो सके । गान्धी जी ने जवाब में कहा—यदि मेरी बात में सचाई है तो बिना रिकार्ड के ही लोग उसे सुन लेंगे । वसी तरह, जिस साहित्य में सचाई है वह चाहे जिस भाषा में हो, अवश्य जीवित रहेगा । अतएव मैं अपने को इस आशय से अलग रखना चाहता हूँ ।

मैं साहित्यिक नहीं और न होने का दावा रखता हूँ । राष्ट्र-भाषा-प्रचार के काम में मैं रहा हूँ । मैं हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा मानता हूँ । इसके प्रचार के लिए मुझसे जो कुछ बन सका है, मैंने किया है ।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्य—सम्मेलन के दो कार्य हैं, (१) साहित्य-निर्माण और (२) राष्ट्र-भाषा-प्रचार । इसी दूसरे काम में थोड़ा सहयोग करने के कारण मैं सम्मेलन के ऊँचे-से-ऊँचे पद पर पहुँचाया गया हूँ । मैं हिन्दी के प्रचार—राष्ट्र-भाषा के प्रचार—को राष्ट्रीयता का मुख्य अंग मानता हूँ । मैं चाहता हूँ कि वह भाषा ऐसी हो, जिसमें हमारे विचार, आसानी से साफ-साफ स्पष्टतापूर्वक व्यक्त हो सकें । इस सम्बन्ध में हमें दो-तीन चीजों की ध्यान में रखना चाहिए—(१) राष्ट्र भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे केवल एक जगह के ही लोग न समझें बल्कि उसे देश के सभी प्रांतों में सुगमता से पहुँचा सकें । जब या तबाल उठा कि बंगाल, गुजरात, तेलंगू, मद्रास आदि प्रांतों के लोगों । आसानी से समझने के लिए हमारी राष्ट्र-भाषा का रूप कैसा हो, तब हम लोगों को सोचना पड़ा कि इन सब भाषाओं में संस्कृत का समावेश हो चुका है । ऐसे संस्कृत शब्दों को, जिनका समावेश उपर्युक्त भारतीय भाषाओं में हो चुका है, हिन्दी से निकालना हम कबूल नहीं कर सकते । उन्हें निकालकर हम हिन्दी की उन प्रांतों के लोगों के लिए और कठिन बना देंगे । (२) साथ ही, उत्तरी भारत में बहुत-से लोग शरबी-फारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं । उन लोगों के लिए हिन्दी को संस्कृत के अटिल शब्दों से कठिन और दुष्कर बनाना भी ठीक

हों। एक तरफ हम लोग अहिन्दी-भाषी प्रांतों के लोगों को अपनी ओर खींचना चाहते हैं और दूसरी ओर हिन्दी-भाषी प्रांतों के सभी लोगों को एक साथ बाँधकर ले चलना चाहते हैं। (३) नाम से हमें कोई भ्रम नहीं। हिन्दी या उर्दू या हिन्दुस्तानी किसी भी नाम का प्रयोग कोई करे, हमें आपत्ति न होगी। राष्ट्र-भाषा वही भाषा हो सकती है जिसमें जो शब्द प्रचलित हो गए हैं, वे रहें। भाषा ऐसी चोज़ नहीं जो कमेटियों में प्रस्तावों से बने। समय और स्थिति के प्रभाव से ही राष्ट्र-भाषा का निर्माण होगा। अगर मैं हिन्दुस्तानी का बखपाती हूँ, तो मेरी हिन्दुस्तानी का स्वरूप कठिन दुस्सह उर्दू नहीं, और न कठिन संस्कृतमयी हिन्दी है।

साहित्य और राष्ट्र-भाषा में अन्तर है। हो सकता है, साहित्य की भाषा कठिन हो। वैद्यक-शास्त्र, 'सर्जरी' 'मेडिसिन' आदि के ग्रन्थों की भाषा कठिन होगी ही। उनमें कुछ अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग होगा ही। पर हिन्दी के वारिभाषिक शब्द हमारी संस्कृति के मुताबिक 'संस्कृत' से ही लेने होंगे, कहीं-कहीं अँगरेजी से भी सहायता लेनी होगी।

समाचार-पत्रों तथा बोल-चाल की भाषा—समाचार-पत्रों की भाषा उच्च साहित्य की भाषा से भिन्न होनी और बोल-चाल की भाषा एक तीसरे प्रकार की होगी। बंगाल, गुजरात प्रभृति अहिन्दी प्रांतों में इसी बात की कटि की भाषा राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचलित होगी। इसे दूसरी भाषाओं से कोई भ्रम नहीं है। तेलगू और मराठी (सीमा-प्रांत) के भाई भी इसे समझ सकें, वही भाषा राष्ट्र-भाषा है।

: २ :

## जनता की भाषा का प्रश्न .

( राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन )

आज हमारे देश में हिन्दी का मान है । आचर्यकर्तार्थ जनता के सम्पर्क में आने के लिए जनता की भाषा के बिना भाषा आचर्यक कर देती है । हम प्रकार भाषा एक दूसरे से मिलती हुई भाषा को भी बताती है । संस्कृत का प्राचीन से मित्र है । उसका सम्बन्ध माननी ।

हिन्दुओं की। इसजमानों ने ही इसे हिन्दी, हिन्दवी नाम दिया।  
 अरबी फारसी से मनी हिन्दी का नाम पीछे से उद्भूत हुआ। इस  
 प्रकार १० वीं शताब्दी के अगमभग बाद उल्लिख में पनपी और दिल्ली  
 आई फिर वहाँ से अस्सन्न। तब 'नामिक' व 'मतरक' का विद्वान्य  
 निकला। उन्होंने गैवारू अष्टन कदमर कुछ शब्दों की छिद्रिस्थ  
 बनाई और उन्हें निकालकर अरबी-फारसी का प्रवेश कराया। उन्होंने  
 जो यह रंग दिया वह अन्न गया और उद्भूत का विकास हुआ।  
 'किताबाए भाषाए' के लेखक सर सादव ने नामिक की शारीर में  
 दिया—

मुसमुसे शीराज को है  
 रक नामिक का सरूर।  
 हरकहां जसने किये हैं  
 कृपहाए अस्सन्न ॥

अर्थात् अस्सन्न को फारस बना दिया। इस शारीर से ही अनु-  
 मान कर सकते हैं कि नामिक सादव की रंगत क्या थी। यह १८ वीं  
 शताब्दी के आरम्भ की बात है। फारसी बोल नहीं सकती थी, इसलिए  
 उन्होंने अरबी-फारसी-मिश्रित उद्भूत को बनाया। उनके इस रचन से  
 कि इस भाषा में फारसी के शब्दों का इतना आदर्य कर दें कि वह  
 फारसी के निकट का भाष, देश का अितना लाभ हुआ वह भाषा-  
 विज्ञान पर विचार करने वाले सोच सकते हैं। यह वह भी हिन्दी और,  
 मुसजमानों को सेवाने की। इसने हमारी भाषा को क्या मुक्याव  
 पहुँचाया [ भाषा समाज की सेवा के लिए है। उसका महत्व बढ़ाने  
 की सेवा में है।

नामिक के समष्ट का समाज गिरा हुआ था। बर्जिराजों का  
 दरबार सदा हुआ था, पठनोपुष्ट था। ऐसे ही दरबार के लिए  
 बर्जिराजों से शील दिया करने थे। उन्होंने ही भाषा में हिन्दी-मुसजमान  
 का भेद अत्यन्त किया।

भाग्य कीर धर्म—इसे देवता है कि जिनका का काम दिगमें है। इस देवी भाग्य लेकर चले जिनके भाग्य-धर्म में ब्रह्मा ब्रह्मण का गते। १७ की जगती में दिग्वी कीर उद् में जो चण्डा चण्डा नद चण्डा भी है कीर पदमे से बरा हुआ है। मुनचमान भाग्यो मे, उद् में धर्म का धर्म जग दिया है। नृ देव के धर्म की धर्म बाहर नहीं का ही। बाह-भग्यो के बाह्य को भाग्य में जो दिया। देवा ब्रह्म के इन्द्रादी गंधर्वों को मन्त्र-धर्म देने है, ऐसी उन्नी धारण है। इन्द्रादी गंधर्व पद है कि वे धर्मको है कि उद् मीथना धारण है। उद् भाग्य का धर्म ही बाह्य नहीं है। ही कुतल धर्मों में है। जीम में मुनचमान है, पर बरा के धर्म-मिथिन नीली बोधने है। इन्द्रादी का धर्म मुनी है। वही ब्रह्मा चण्डा ने जो काम किन पद जगता की दृष्टि से तुम्हें को धारण से जाने के लिए। उन्हीं धर्मों भाग्य में धर्म-धर्मों का धर्म निधान के, देवा उन्हीं धर्म

कि रेडियो की भाषा-नीति हिन्दी-विरोधी है। सरकार ने एक कमेटी  
 आई। उसमें साहित्य-सम्मेलन और अंतुमने-तरफकी ए उद्देश्य के  
 विनिधि मुझाये और उसके साथ रेडियो-कमेटी बंठी। उसने प्रश्न  
 का और साथ में तीन शब्द लिख भेजे। अंगरेजी में 'इकनामिक'  
 शब्द के लिए रेडियो की भाषा में क्या रखा जाय 'इकतसादी' या  
 'आर्थिक' ? यदि किसी का स्वागत करना है तो उसके लिए 'स्वागत'  
 है या 'इस्तकबाज' ? इस सवाल का हल कैसे हो ? कोई सिद्धान्त  
 चाहिए। कडहुज्जरी की बातें छोड़ें। सरसी-कारसी रखना चाहते  
 हैं तो रखें, बात भिन्न है। पर संस्कृत और प्राकृत से भागकर  
 अपने कहीं ? यह तो हमारी जसों में चुसी है। यह भाषा की जड़  
 है। संस्कृत छोड़ो, फारसी छोड़ो, यह कडहुज्जरी है। शब्दों के प्रयोग  
 यह ध्यान रखना पड़ेगा कि अधिक-से-अधिक लोग उसे किस रूप  
 समझ सकेंगे हमें उन्हीं प्रातुओं और शब्दों को लेना होगा।  
 'स्वागत' और 'इस्तकबाज' नहीं। मराठी, बङ्गाली, उर्दू और गुजराती  
 लेने वाले भी उसे समझ सकेंगे। निश्चय है कि प्राकृत से  
 बनी संस्कृत समीप जो शब्द होगा वही अधिकाधिक समझा जा  
 सकेगा।

राष्ट्र-भाषा का स्वरूप—एक बार मुझे महाराष्ट्र जाने का अवसर  
 मिला। वहाँ मैं राष्ट्र-भाषा-प्रचार परीक्षा में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को  
 प्रमाण-पत्र देने के लिए सभा हुई। प्रमाण-पत्र मेरे हाथ से बँटवाया  
 गया। प्रमाण-पत्र लेने वालों में बड़ी उम्र की लड़कियाँ, माधार्प,  
 ५०, ५५, ६० उत्तीर्ण लोग प्रमाण-पत्र लेने आये। उस सभा के  
 आयोजक ग० र० वैशम्पायन जी थे। मैं उस सभा में जब खोल चुका तो  
 मैं भाषा की टीका करते हुए वैशम्पायनजी ने कहा—“आपने दंडनजी  
 का प्रमाण चुना है। इससे पहले आपने जब दो बड़े नेताओं के भाषण  
 सुने थे तब प्रश्न किया था कि क्या यही राष्ट्र-भाषा का स्वरूप है ?  
 यदि उसका यही स्वरूप है तो राज आये ऐसी राष्ट्र-भाषा से। इससे



तो भाषा ही अच्छी। इसके अलावा तो आर्य-जगती सिधिर भी।  
 पर वह आर्य-भाषा का व्यवहार नहीं करता। उसका व्यवहार वह है जो  
 आपने ईश्वरजी से सुना है। आप जब इसे समझ लेंगे तो आप ही  
 लक्ष्मी कहें—'हो'। यदि आप 'व्यवहार' लेकर जायें तो ईश्वरजी, बंगाली  
 भाषावादी भाषी आपका व्यवहार करेंगे। 'व्यवहार' लेकर जायेंगे तो  
 आपका कोई 'व्यवहार' न होगा। ऐसे करने का मतलब यह नहीं  
 कि जो आर्य-जगती के साथ व्यवहार है उन्हें सिधिर में रखें। वे  
 अपने बकील भाइयों से कहेंगे कि यदि वे 'मुर्दा' और 'मुर्दाखोर'  
 किल्ला बनाते हैं तो सिधिर पर 'मेरावर निहई व नकराई' जैसी भाषा  
 की व्यवहार नहीं है। मगर भाषा सिधिर। इस व्यवहार के दुबारे हैं।  
 भाषा हाथिए भीलने है कि अपने चरण जायें। 'व्यवहार' और  
 'आर्थिक' दोनों व्यवहारों का है पर 'आर्थिक' के समझने वाले  
 'व्यवहार' समझने वालों से जानो स्यादा है। इस पर है कि क्या  
 हाथ बलाया हो तो क्यों जायें? यदि वेद काट से काट लें तो ब्रह्मा  
 तो ब्रह्म और श्रीकृष्ण के चरण जायें पर आर्य की भाषा नहीं जो आ  
 सकती।

हमें शहरों का ऐसा भेड़ करना चाहिए जो भावा को सुरक्षित रखे।  
भुलानेवालों को भी भावा को सुरक्षित देने का दायर करना चाहिए।  
क्योंकि भावा से भी सम्बन्ध है। 'सिन्धु-उद्' को भी  
सम्बन्ध को भी विचार दो, जो दूरी होकर रही भावा का 'सिन्धु-  
उद्' का प्रत्यक्ष सम्बन्ध को प्रत्यक्ष का एक प्रमाण है।

भाषा का विकेन्द्रीकरण—हिन्दी राष्ट्रभाषा की मान्यता है। विकेन्द्रीकरण के समर्थकों को राष्ट्रभाषा से काम लेना चाहिए। हिन्दी-भू के अन्तर्गत से इसे सबक लेना चाहिए। उसे सबक ही मान लेना चाहिए। हिन्दी राष्ट्र की भाषा है। हिन्दी के अन्तर्गत सब राष्ट्रभाषा के अन्तर्गत सब भाषाएँ राष्ट्रभाषाएँ बननी चाहिए सब भाषाओं को समानता

का माध्यम बनायें तो हिन्दी कहीं रहेगी और राष्ट्रीय एकता कहीं रहेगी। अलग-अलग जनपद की भाषा के अन्तर को लेकर, उसे अपनाकर हम हिन्दी का अहित करेंगे। हिन्दी सैकड़ों वर्षों के भाषा के विकास के परिणाम स्वरूप बनी है। मजभाषा, अवधी, राजस्थानी आदि सब हिन्दी के स्तम्भ हैं। ये सब-हमारी धाती हैं। 'सूर-सागर', 'रामायण' और जायसी के ग्रन्थ स्तम्भ हैं।

हमसे यह कहा जाता है कि मानू-भाषा में बोलना-लिखना सीखने में सुगमता होती है। पर यहाँ के बच्चों को मैं तो नहीं समझता कि 'जाता है, खाता है, सीखने में कोई कठिनाई पड़ती है। यह तो मानू-भाषा के ही समान है। हमारे पूर्वजों ने जैसी भूख की वैसी ही भूख परि हम करें और भिन्न-भिन्न बोलियों को शिक्षा का माध्यम बनायें तो हमारी भूख का परिणाम हमारी भावी सन्तान को भुगड़ना पड़ेगा और एकता का सूत्र बिखर जायगा।

लिपि का प्रश्न—अब लिपि का प्रश्न खीजिए। लिपि यही रहे या भिन्न हो। मेरी दृष्टि में 'लिपि वैसी होनी चाहिए जिसे राष्ट्र-भाषा स्वीकार करे। स्वरो को देखिए। 'अ' और 'इ' को खीजिए—यदि 'अ' में 'इ' की मात्रा लगाकर 'अि' कर दें तो सुगमता हो जाय। 'अ' में 'ओ' की मात्रा लगाकर हम 'ओ' बनाते ही हैं। फिर इसमें क्या आपत्ति है। पर नहीं हम रुकियाही हैं। अगर हम पुरानी बात से सितकने को कहते हैं तो लोग भीकने हैं। संसार उन लोगों का है जो समय के भेद से समय का भेदन करते हैं। हमारी लिपि सबसे अधिक वैज्ञानिक है। मार्टिनेट के आविष्कारक सर आर्चबिशप रिडमैन इंटर एजिटवा कम्पनी के भौकर होकर यहाँ आये। उन्होंने हिन्दी का वर्गीकरण देखा। हमारा वर्गीकरण प्यार पर है। इसे देखकर उन्होंने कहा कि वे विरय के पूर्ववर्तम अक्षर हैं। सैयद अली बिक्रामो ने अपने जाति-बन्धुओं से कहा था कि समय बचाना चाहते हो तो अपने बच्चों को पानी सिखाओ। बी० कृष्ण स्वामी अक्षर दे

भी कहा था कि 'मैं तामिल, तेलगू वालों से अपील करता हूँ कि वे अपनी लिपि छोड़कर नागरी लिपि अपनार्थ ।' शारदाचरण मित्र ने भी ऐसी ही सलाह दी थी । पर हम रुढ़िवादी हैं । जहाँ रुढ़ि है वहीं नाश है । ए, ई, उ को हटाइये कितना हल्का काम हो जायगा । अंग्रेजों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ष में 'इ' सम्मिलित है । यदि उसके लिए केवल एक-एक चिह्न बना लें तो क्या हानि हो जायगी । हमारे तो दस अक्षरों को बचत हो जायगी । लिपि का स्वरूप बदलता रहना चाहिए ।

लिङ्ग-भेद का झगड़ा—शब्दों के लिङ्ग-भेद का भी एक प्रश्न है । बिहारी और बंगाली भाइयों के सामने यह समस्या विशेष रूप से आती है । राजेन्द्र बापू ने एक बार कह दिया था 'बाद भाषा, छाइन हूट गया ।' उसमें क्या अशुद्ध है ? क्या लिंग का झगड़ा मिटाया जा सकता है । इस सम्बन्ध में मुझे कुछ नियम सूझे हैं । हमारे यहाँ लिंग-भेद की भूल उच्चारण के कारण होती है । हम अकारांत को प्रायः पुर्विलिङ्ग और इकारांत को स्त्रीलिङ्ग बोलते हैं । जहाँ अर्थ स्पष्ट है वहाँ अल्पत्र यह अपनाने में हानि क्या है ? यह प्रश्न आप पर छोड़ता हूँ । आप विचार करें ।

संस्कृत समय के अनुपयुक्त—एक बात संस्कृतवादियों से भी कहना चाहता हूँ । संस्कृत आदि और पूरव भाषा है । किन्तु हम संस्कृत का बहुलता से प्रयोग करें वह ठीक न होगा । सिन्ध के मार्ग में बाधा पड़ेगी । काशी के पंडितगण तो अपनी सिन्ध में हिन्दी का प्रयोग होने देना ही नहीं चाहते । पर हिन्दी ही राष्ट्रीयता का स्थान ले सकती है । भावना और ज्ञान जगाने वाला हिन्दी ही हो सक्ती है, संस्कृत नहीं । संस्कृत को पढ़े-लिखे लोग भी देश के कामों में स्थान नहीं दे सकते । घर्म के काम में भी हिन्दी को ही स्थान दिया जाना चाहिए । पारमिक संस्कार का सम्बन्ध भावना से है । भावना का स्थान अवलोकन की भाषा से भी नहीं ले सकते हैं । संस्कृत को अवलोकन

बुद्ध ने, लूथर ने जनता की भाषा को अपनाया था। धर्म दिखाने या बैसे से खरीदने की चीज़ नहीं है। आप सप्तशती संस्कृत में पवित्र हैं, किन्तु वह दूसरे से बदलाने की चीज़ नहीं। यदि आप चाहते हों कि ऐसे खर्च कर दूसरे से पाठ, यज्ञ आदि कराकर ईश्वर वहाँ पुण्य इन्द्रराज कर दिया जाय तो वह गहरी भूल है। धर्म धर्मों के समूह यह हिन्दू धर्म के नाश का चिह्न है। यह अधार्मिक प्रवृत्ति हमारी युवावस्था की अप्रति है। धर्म दिखाने की चीज़ नहीं। उस सम्भव इन्द्र और भद्रिन्क से है। ज्ञान और भावना जगते के धार्मिक कृत्य भाषा में किया जाना चाहिए। विवाह पवित्र संस्कार है एक प्रविशत रिता को और दशमज्जव पवित्र आचार्य के कहने के हैं। पर भाव उसका अशुद्ध भाव कर इस पवित्र संस्कार की शक्ति बढ़ाई जाती है। इस बात पर शुद्ध इन्द्र से विचार करें। धार्मिक और राष्ट्रीयता के उद्धान की प्रवृत्ति हिन्दी है। यदि राष्ट्रीय सुरक्षित है तो धर्म भी सुरक्षित ।

जो काम देववाणी संस्कृत से प्राचीन समय में हुआ था वह काम आज हिन्दी कर सकती है। कुछ लोगों ने सपना देखा है कि अंग्रेज़ी से देश का काम चलाया जाय। पर वह असम्भव बात है। कॉम्रेस में भी पहले अंग्रेज़ी का बोझ-बाधा था। कॉम्रेस हिन्दी उद् में काम करने के लिए मने ही प्रस्ताव रखा था और प्रस्ताव ने हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग मने उसी अर्थ में किया था जैसा कि इलाहाबाद की एकेडेमी ने किया है अर्थात् हिन्दु अथवा उद्। उद्दश्य यह कि अंग्रेज़ी के स्थान पर कॉम्रेस अंग्रेज़ी हिन्दी या उद् का प्रयोग करें। कॉम्रेस ने यह कभी नहीं किया कि हिन्दुस्तानी भाषा की कोई नई भाषा बनाई जाय। ऐसा कहते हैं वे अशुद्ध कहते हैं। कॉम्रेस-प्रस्ताव की भाषा में हिन्दुस्तानी शब्द हिन्दी और उद् दोनों को समाविष्ट करता है, इन दो से विच्छेद किसे दूसरी खेती का नाम नहीं है ।

कुछ लोग बड़ा करते हैं कि उर्दू अच्छी भाषा है—पर उर्दू हम कथन में तनिक भी मचाई नहीं है। उर्दू बर्तन भाषा है। हिन्दी उर्दू के मेख का योगक हूँ और मेख प्रेम मे होता है। कि हमारे को सम्मन करने के लिए हम अपनी भाषा में परिवर्तन कैसे कर सकते हैं। एक बात है कि मेख हो और हमारा हम तरह का नहीं होता तो फिर मेख कैसे सम्भव है। हम आज अपनी भाषा किने भी उर्दू के शब्द क्यों न मिलाएँ—उर्दू वाले हम को भौंकने को तैयार नहीं। वर्षों में बँटकर आया गढ़ना वह ठीक नहीं यह दलील कि अगर तुम मेख क पचपाती हो तो ऐसी भाषा बिना जिसमें मेख हो, चाहे हमारा वह ऐसी भाषा न बिये। देखने में सुग है किन्तु वास्तविकता का ध्यान नहीं। हिन्दी और उर्दू के मेख तीसरी चीज़ हिन्दुस्तानी के दरान की मुलना गंगा और यमुना मेख से त्रिवेणी की की गई है। अगर गंगा और यमुना दोनों चाहे। सभी संगम सम्भव है; सम्भव नहीं। अगर गंगा मेख करने को। और यमुना परे हटती जाय तो फिर भला त्रिवेणी के दरान कैसे सकते हैं। आज जो देश का वातावरण है वह समय । अनुकूल न है। हिन्दी उर्दू के पवित्र यदि बैठें और सद्भावना से शुद्ध निर्दा के अनुसार काम करें तो मेख हो। पर ऐसा अभी होता-दिखाई न देता।

पिछले वर्ष से एक दलील यह सुनाई देने लगी है कि सिर्फ हिं जानने वाला अर्घ्य राष्ट्रीय और सिर्फ उर्दू जानने वाला अर्घ्य राष्ट्रीय और जो दोनों जाने वह पूर्ण राष्ट्रीय है, महात्मा जी तो उर्दू न जानते थे तो फिर क्या वे अर्घ्य राष्ट्रीय थे; किन्तु ऐसा कहना द नहीं। वे राष्ट्रीयता के स्रोत थे।

—जबकि बल्लाम आज़ाद सिर्फ उर्दू जानते हैं तो ।

क्या हम स्वर्गीय लिखक और स्वर्गीय सी० आर० दास को अर्धराष्ट्रीय कह सकते हैं ? इस दलील में सार नहीं है ।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने ही कॉंग्रेसी को हटाने का काम किया है । इस दिशा में कॉंग्रेस ने विशेष ध्यान नहीं दिया है । भाषा और लिपि एक बहुत बड़ा साधन है जिससे हम सब प्रान्तों को एक दूसरे से मिला सकते हैं । भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि राष्ट्र-भाषा और देवनागरी लिपि सीखो—इसी में कल्याण है । यह मेरा सपना है कि हम अपनी हिन्दी भाषा द्वारा प्रान्तीय भाषाओं के भगदे मिटा सकते हैं ।

उर्दू की लिपि अपूर्ण है । यह इसकी कठिनाता और कमजोरी है । मैं जब-बहु सुनता हूँ कि उर्दू सात दिन में सीखी जा सकती है तो मुझे बड़ा अचम्भा होता है—ऐसी बातें वे ही कहते हैं जो उर्दू नहीं जानते । नागरी लिपि तो हम तीन महीने में सिखा सकते हैं किन्तु उर्दू सीखने में दो साल लग जायेंगे । सिर्फ अधिक, वे, वे पहचान लेने से ही उर्दू नहीं आ जाती ।

मैं मानता हूँ कि राष्ट्रीयता की दृष्टि से यदि हिन्दी में कोई परिवर्तन करना पड़ा तो हम करेंगे, परन्तु साथ ही उर्दू में भी बहुत परिवर्तन करना पड़ेगा । मैं चापसे यही अनुरोध करता हूँ कि आप राष्ट्र-भाषा हिन्दी को अपनावार्थ क्योंकि नागरी लिपि पूर्ण वैज्ञानिक है और सारे देश के लिए नागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा सर्वसे सुखम है ।

## सार्वदेशिक भाषा

( श्री सम्पूर्णानन्द )

हिन्दी के साहित्य-भाग के लक्ष्य विरह-साहित्य के उपनिषद्गुणों में परिगणित होते हैं। संस्कृत को छोड़कर आज भी किसी भी भारतीय भाषा का वास्तविक विस्तार या मौलिकता में हिन्दी के प्रागे नहीं जा सका। इसका एक-मात्र कारण यह है कि शापक के नामे जो हो, और उसकी नीति चाहे जैसी हो; हिन्दी भारतीय जनता के एक बहुत बड़े भाग की अपनी भाषा है। हिन्दी-लेखकों की प्रतिभा को भारतीय संस्कृति की आत्मा निम्नर रूढ़ि देती रही है, उसकी हुरियों में कौनों भारतीयों की आशाओं, आकांक्षाओं, हृत्प्रा-विषाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। मैं इस बात को नहीं समझ पाता कि कोई भी व्यक्ति, जिसको भारतीय संस्कृति से प्रेम होगा, इस भाषा को छोपीका न करेगा। बंगला, गुजराती, पंजाबी या तमिल भी अंततः भारतीयता की अभिव्यक्ति करती हैं, परन्तु ऐतिहासिक कारणों से हिन्दी को ही भारत की सार्वदेशिक भाषा होने का शीर्षक प्रदान किया है। परमा से लेकर दिव्यी तक, हरिद्वार से लेकर अजमेरी तक के प्रदेशों में, रामायण काव्य से लेकर मुगल साम्राज्य के गूदासन तक भारतीय संस्कृति का विकास हुआ। वहीं बड़े-बड़े व्यक्तियों राज्यों और साम्राज्यों का उदय हुआ। देश के कोने-कोने से निरक्षर प्रतिभाएँ भी व्यक्ति बरों

भाषे । यहाँ से विद्वान् और शास्त्रिक सारे देश में फैले । इसीलिए यहाँ की भाषा स्वतः राष्ट्र-भाषा बन गई ।

हम इस भाषा के पुजारी हैं । यों तो स्वतन्त्र भारत की विधान-परिषद् को पूरा अधिकार होगा कि यह चाहे जिस भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाय, परन्तु हमको पूर्ण आशा है कि यह स्थान भारत की इसी भाषा को प्राप्त होगा । हम इसके लिए बपों से प्रार्थना भी कर रहे हैं ।"

अब प्रश्न भाषा के स्वरूप का है । नाम तो गौण है । जो लोग हिन्दुस्तानी नाम को बोलना चाहते हैं उनमें कुछ ने आज तक अपनी नीति स्पष्ट नहीं की । उनका कहना है कि हमको सरल, सुगोचर भाषा का प्रयोग करना चाहिए । यह बात बिल्कुल ठीक है । जहाँ 'खाना खाया' से काम चलता हो वहाँ 'मोजन ग्रहण किया' या 'वनायक या हजर कर्माया' कहना मूर्खता का प्रमाण देता है । परन्तु हमें देने बपों के लिए भी शब्द चाहिए जिनका साधारण जनता के जीवन या बोल-चाल में स्थान नहीं है । 'इन्टरनेशनल' 'काइनेमैट' 'कल्चर' 'स्टूडेन्ट' के लिए क्या बोलें ? अब इस सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त निश्चित न हो जाय तब तक हिन्दुस्तानी का कोप किस आधार पर बने ?

उर्दू के कवि ने कमल और अमर को धोकर ईरान में गुलाब और सुलजुल की अपनाया, जिसको न उसने देखा और न उसके श्रोताओं ने । जिस भारत में मांस खाना कुछ बहुत अच्छी बात नहीं समझी जाती, जो भारत अपने पूर्वजों के पवित्र सोम-रस का पान घोंद चुका था और सुरा-पान को निन्द्य मानता था, उसके सामने उन्होंने कबाब, शराब और साँझो का राग अलापा ।

अब स्वतन्त्र भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों को रहना है । भले ही उपासना करते समय एक का मुख पूर्व और दूसरे का मुख पश्चिम की तरफ हो । एक वेद-ग्रन्थ पढ़े तो दूसरा कुरान की आयत; परन्तु दैनिक जीवन में एक का दूसरे से बराबर काम पड़ता है । संगीत, नृत्य-कला, चित्र-कला, स्थापत्य के क्षेत्र में दोनों एक जगह मिलते हैं,



माया होगी जो सबके सुख-दुःख, सबकी साजसामों और भरमानों को व्यक्त कर सके, जिसके द्वारा शायक, पिचक, सेलक, प्रचाक, और आकार सबके पास पहुँच सकें, यह सबके सोचने की बात है। चाण्ड समस्याएँ सुलझा नहीं करती।”

प्रायः रूर से उद्गू या चण्डरूप रूप से कृत्रिम असावधानी हिन्दुत्वानी के नाम पर हिन्दी का विरोध करने वाले ठेके से बहुत दूर है। हैदराबाद की भाषा उद्गू इसलिए है कि वहाँ का राजवंश मुस्लिम और कारमीर की भाषा इसलिए उद्गू है कि वहाँ की प्रजा में एक संख्या मुसलमानों की है। पंजाब में उद्गू इमजिर पड़ाई की थी कि वहाँ पहले २२ प्रतिशत मुसलमान थे और बिहार में उद्गू पड़ाई जानी चाहिए कि अब वहाँ १२ प्रतिशत भी मुसलमान हैं। यह भाषा नहीं, साम्प्रदायिकता का प्ररम है।

हम सबकी इस बात का कठिन अनुभव है कि हमारे किसी भाषण में कोई संस्कृत का शब्द शब्द आया नहीं कि उद्गू के हमारे हैं, ‘साहब, आसान हिन्दुत्वानी बोलिये, हम इस शब्द नहीं समझते।’ परन्तु हिन्दी-में भी किल्ल, अरबी-फारसी शब्दों की र को प्रायः सुपचाप सह लेते हैं। हिन्दुत्वानी भाषायी उद्गू रों का द्वेष-भाव कहीं तक जा सकता है, उसका एक उदाहरण है।

अभी थोड़े दिन हुए, भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री. अबुलकलाम आज़ाद आग विश्वविद्यालय के छात्रों की ओर से एक मान-पत्र दिया। उस पर उद्गू-समर्थकों के मुख-पत्र ‘हमारी जुबान’ ने एक लंबी मयी टिप्पणी लिखी। उसने उन शब्दों की रेखांकित किया, जो सम्मति में हिन्दुत्वानी में न जाने चाहिए। यह कहना अन्याय है कि वे शब्द संस्कृत से आये हुए थे। यह बात तो कुद में आती है। यह भी कुछ-कुछ समझ में आता है कि इन लोगों

की दृष्टि में घरबी और चारसी से निकले हुए मुख्य शब्द सरल और सुशोभ है। पर विचित्र बात यह है कि 'मानवत्र' की धर्मेश्वरी का कोई शब्द भी ऐच्छांकिष्ठ नहीं है। यह द्वेष-भाव की प्रतीति है। जिस 'दिगुस्वामी' में धर्मेश्वरी को स्थान न हो, परन्तु संस्कृत के शब्द दौड़-धौड़ ॥ निवास दिये जाते हों, वह देश की राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती।

मैं चला करता हूँ कि क० भा० हिन्दा ग्राह्य सम्मेलन, इस दिशा में हमारे मार्ग में जो रुकानाहटें हैं, उन्हें दूर करने में समर्थ होगा। यों तो हम प्रश्न का सम्बन्ध राजनीति से है और हमके सुझावों में राज-वैदिक मेलों को दाय बनाना ही होगा। हिन्दी-उर्दू के बाद-विवाद का प्रचार केन्द्र हमारा ही प्रांत संयुक्त प्रांत है। यदि हम लोग किसी प्रकार अपने प्रांत में सुलझाव कर सकें, किसी प्रकार सुसंयमानों को यह समझा सकें कि भाषा का प्रश्न साम्प्रदायिक नहीं है, किसी प्रकार उर्दू के प्रेमियों को यह विश्वास दिला सकें कि हम भी उर्दू से शत्रुता नहीं, प्रत्युत हम यह चाहते हैं कि प्रत्येक को पुस्तक लिखें उनसे अधिक-से-अधिक जाने वाले काम उठा सकें, हमारे देश की प्रतिभा देश के कोने-कोने को प्रभावित कर सकें, तो समस्या है कि बहुत बड़ा काम होगा।

: ४ :

## हिन्दुस्तानी का रहस्य

( डाक्टर मुनीलकुमार चाटुर्ग्या )

✓ विदेशी लोग इस बात पर हँसेंगे कि भारतीयों ने अंग्रेजी राज्य को अधिकार कर दिया, पर वे अंग्रेजी भाषा से थपके हुए हैं। हम अपने देश की मर्यादा और गौरव के लिए अपनी भारतीय भाषा को ही राष्ट्र-भाषा बनाना चाहिए। हमें विदेशियों के साथ पत्र-व्यवहार भी अपनी ही भाषा में करना चाहिए। सुविधा के लिए हम उसका अनुवाद उनकी भाषा में कराकर भेज सकते हैं। ऐसा करने से हमारी भाषा की महिमा संसार में फैलेगी।

हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा—यह बहुत सुन्दर होता कि हम संस्कृत भाषा को सरल बनाते और उस सरल संस्कृत को ही राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचलित करते, लेकिन यह सम्भव नहीं है। अस्तु, अब सर्वोत्कृष्ट मार्ग यही है कि संस्कृत शब्दों से युक्त हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा और देवनागरी लिपि को ही राष्ट्र-लिपि बनाया जाय। हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी में आवश्यकतानुसार अरबी और फारसी के उपयुक्त शब्द भी छिपे जा सकते हैं।

उर्दू या फारसी भाषा है—जहाँ तक उर्दू का प्रश्न है, यह फारसी और बनावटी भाषा है और यह दुःखजनक घटना है कि हमारे देश के कुछ लोग केवल १२ प्रतिशत कोड़ते वालों की भाषा एवं प्रतिशत लोगों पर लादना चाहते हैं।

## डाक्टर सुनीलकुमार चाटुग्ग

इस छान्दोग्य का वास्तविक रहस्य आपको निम्न पंक्तियों से पता होगा। हिन्दी को कुचलने के लिए क्या-क्या पद्यन्त्र हुए, इससे आप अच्छी प्रकार अवगत हो जायेंगे।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों की तुर्क-विजयों के पश्चात् उत्तरी भारत ( पूर्वी पंजाब से लेकर बङ्गाल तक ) की प्रचलित भाषाओं में से हिन्दी सबसे प्राचीन और सरल नाम है, और मैं प्रयोग इसी पुराने अर्थ और व्युत्पत्ति में करता हूँ और जनता में भी एक इस नाम से यही भाव ग्रहण किया जाता है। 'हिन्दुस्तानी' शब्द की और अधिक कोमोली उपज है—शुद्ध फारसी शब्द के जब यह शब्द सुसज्जमाना हिन्दी अर्थात् उर्दू, जिसमें फारसी अरबी शब्दों की भरमार रहती है और देशज हिन्दी तथा संस्कृत यथार्थात् न्यूत और बहिष्कृत रहते हैं, का पर्याय हो गया है। बीच भाषाओं के कुछ विद्यार्थियों और कॉलेज तथा अन्य संस्थापकनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ताओं की और से इस फारसी 'हिन्दुस्तानी' को अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करने का और साहित्यिक हिन्दी (नागरी हिन्दी) और उर्दू दोनों की आधारभूत के अर्थ में प्रयुक्त करने का प्रयत्न हुआ है, परन्तु इन कोशिशों के बावजूद लगभग सब कॉलेज और अन्य विदेशी लोग अब भी 'हिन्दुस्तानी' और 'उर्दू' दोनों शब्दों को हिन्दी भाषा की एक ही शैली के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं जो फारसी लिपि में लिखी जाय जिसमें अरबी-फारसी शब्दावली प्रयुक्त की जाय।

जब कॉलेज हिन्दुस्तानी के टेड आधार अर्थात् कड़ी बोली, पर साहित्यिक हिन्दी और उर्दू दोनों की बीच रखी हुई

ॐ उदाहरण के लिए बी० बी० सी०, मास्को रेडियो, अल्मा-आटा रेडियो और अन्य विदेशी रेडियो-स्टेशनों की 'हिन्दुस्तानी' ही लीजिए, जो शुद्ध उर्दू है—बाल इंडिया रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' नामधारी अपेक्षाकृत पतली पारसीवाली उर्दू भी नहीं।

भाषा पर एक गई भाषा वा साहित्यिक शैली गढ़ने का विचार इस कथित इरारे के साथ कर रही है कि विदेशी घरबी-कासी शब्दों, जिन पर मुमजमान नेता जोर देते हैं और देशज हिन्दी और संस्कृत शब्दों, जिन पर हिन्दुस्तानी-भाषी-श्रेय के तथा श्रेय भारत के हिन्दू जोर देते हैं, के बीच में एक उचित और न्याय-सन्तुलन रखा जाय। परन्तु व्यवहार में यह फारसी-निष्ठ हिन्दुस्तानी बन रही है जिसे गुजराती, बङ्गाली, महाराष्ट्री, उड़िया और दक्षिण के लोग नहीं समझ पाते (परन्तु फिर भी उनसे हिन्दुस्तानी के इस रूप को राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण करने के लिए कहा जाता है) ७ और जिसमें बिहार और संयुक्त-प्रान्त, राजपूताना, मध्य-भारत और मध्य-प्रांत की जनता, जो संस्कृत शब्दावली की अभ्यस्त है, आराम और सुविधा का अनुभव नहीं करती। यह भाषा शायद केवल संयुक्त प्रान्त, बिहार, हिन्दी भाषी मध्य-प्रांत और पञ्जाब के सुशिक्षित मुसलमानों की और परिधमी संयुक्त-प्रान्त तथा पञ्जाब के पढ़े-लिखे सिखों और हिन्दुओं की एक विशिष्ट संख्या की सुविधाजनक मान पड़े।

यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि पूर्वी संयुक्त-प्रान्त, बिहार, नैपाल, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, आन्ध्र, तामिळनाड, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के लोग हिन्दी-हिन्दुस्तानी ■ प्रति जो आकर्षण अनुभव करते हैं वह मूलतः दो कारणों पर निर्भर है—उसकी देवनागरी लिपि और उसकी संस्कृत-निष्ठ

ॐ अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के गुजराती, महाराष्ट्री, बङ्गाली, असमी, उड़िया और दक्षिण भारतीय सदस्य प्रायः यह शिकायत करते सुने जाते हैं कि हम पं० बालकृष्ण शर्मा और भी टएडन जी के हिन्दी-भाषण तो कभी अच्छी तरह समझ लेते हैं, परन्तु पं० नेहरू, मौलाना आज़ाद और आचार्य कृपलानी ही 'हिन्दुस्तानी' ठीक-ठीक हमारी समझ में नहीं आती।

शब्दावली। हमें इस बड़ी सच्चाई को कभी नहीं भूलना चाहिए और न यह कभी मुझाई जा सकती है। +

समग्र भू-मण्डल की तीसरी भाषा; चालीस करोड़ मानवों की-  
गिरव की मानव-सन्तान के पंचमांश की- होनहार राष्ट्र-भाषा; धर्म-  
शोक और निषाद-द्रविड-किरात भाषों की मिलित चेष्टा के कल-  
स्वरूप हमारी प्राचीन संस्कृति-वाहिनी संस्कृत भाषा से सम्प्रथित  
आधुनिक भारत की प्रतिभू हमारी हिन्दी भाषा; जिसके गले में घरघ-  
र और ईरान के शब्द-भण्डारों से लिये हुए मणि-हार हमने सजकाये हैं,  
और जिसकी शक्ति तथा सौन्दर्य को हमने बढ़ाया है; ऐसी भाषा पर  
हम क्यों न गर्व करें, और इस अनमोल देन के लिए क्यों न हम  
ईश्वर की स्तुति करें। हिन्दी भाषा जोरदार भाषा है, यह सचमुच  
मर्दानगी जवान या पुदग की बोली है। हिन्दी की अभिव्यञ्जना-शक्ति  
अपूर्व है।



+ कम-से-कम 'हिन्दुस्तानी' की रट अब क्यों; जब कि भारत  
के वही भाग कांग्रेस की मुट्ठी में से निकल गए जिनसे अपनी  
'राष्ट्र-भाषा' बनाने के लिए घूस देने के विचार से कांग्रेस,  
विरोध रूप से कांग्रेस के हिन्दू नेता, इतने वर्षों से वास्तविक  
राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सुझत करके 'हिन्दुस्तानी' बनाने में लगे  
हुए थे ?

अब तक कहा जाता था कि देश में उर्दू भाषी प्रदेश भी हैं,  
राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' ऐसी हो जिसे फ्रांटियर के लोग भी समझ  
सकें; अब शायद यह कहा जाय कि सुद की अपेक्षा एक पड़ोसी  
राष्ट्र को अपनी राष्ट्र-भाषा समझना ज्यादा जरूरी है।



इसके सिवा उर्दू ज़िन्दा देश की ज़िन्दा नहीं और उर्दू भाषा अरबी फारसी के ज्ञान के बिना व्यवहार में नहीं लाई जा सकती ।

अब रह गई हिन्दी और उसकी बहनें । भारतीय भाषाओं में बंगला सबसे उठती मानी जाती है और जब राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उठता है तो हमारे बंगाली भाई बंगला की वकालत बड़े उत्साह और उमंग के साथ करते हैं । अन्य आर्य भाषाओं के बोलने वाले पंजाबी, मराठी, गुजराती, उडिया और आसामिया वाले हिन्दी का ही समर्थन करते हैं । इसलिए हमें बंगला के दावे पर विचार करके ही आगे बढ़ना चाहिए । सारे 'माल' में बंगला बोलने वाले १ करोड़ हैं और 'विभक्त बंगाल' में कोई २॥ करोड़ । अब हम यदि बंगला को राष्ट्र-भाषा बनाते हैं तो उर्दू की भूति हो उसे २२ करोड़ पर खारते हैं । भाषा के मूलाधार क्रिया, विभक्ति, अव्यय, स 'नाम और अव्यय बहुधा उर्दू हिन्दी के एक हैं । पर भाषा की समझौसी से बंगला अन्य आर्य भाषाओं के समकक्ष ही रहती है । इसलिए बंगला २२ करोड़ अन्य भाषियों पर नहीं लादी जा सकती । इसके सिवा अपने शब्दों के उच्चारण के वैचित्र्य के कारण वह अक्षिप्त हिन्द की भाषा नहीं बन सकती ।

पहले जन्म-गणना में हिन्दी चार भागों में विभक्त की जाती थी—  
(१) पश्चिमी हिन्दी, (२) पूर्वी हिन्दी, (३) बिहारी और (४) राजस्थानी; पर आजकल वायिंक्षियों—ईसर बुकों में विलक्षण रंग देखा जाता है । पश्चिमी हिन्दी तो है, पर पूर्वी हिन्दी नहीं है । इसी प्रकार बिहारी है, पर राजस्थानी नहीं । पश्चिमी हिन्दी बोलने वालों की संख्या ७ करोड़ बताई गई है । परन्तु यदि अन्य तीनों की संख्या का हिसाब लगाया जाय और हिन्दी के प्रसार पर ध्यान दिया जाय तो पता चलेगा कि उत्तर में कुमायूँ से लेकर दक्षिण में ईदराबाद तक हिन्दी का प्रचार है और राजस्थान से लेकर बिहार की सीमा तक उसका विस्तार है । ऐसी अवस्था में हिन्दी-भाषियों—हिन्दी को अपनी



## राष्ट्र-भाषा—हिन्दी

भाषा मानने वालों की संख्या १२ करोड़ से कम नहीं है। इस प्रकार हिन्दी चाहे हिन्द की भाषा है और इसलिङ्ग इसका-व्यापकता, विस्तार किसी अन्य भाषा का न होने के कारण वही राष्ट्र-भाषा पद के योग्य है।

संस्कृत हिन्दुओं की धर्म-भाषा है और इसी में उनके सभी धर्म-ग्रन्थ हैं। इसलिङ्ग सारे भारत में लोग धर्म के कारण संस्कृत लिपि से परिचित हैं और चूंकि वही हिन्दी की ओर लिपि है इसलिङ्ग यह राष्ट्र-लिपि होने की अपेक्षारिधी है। परन्तु मुसलमानों के परिठोसार कहा जाता है कि दोनों लिपियाँ सबको मोतमी चाहिए। अनुभव से जाना गया है कि जिस लिपि का भाषा का व्यवहार किया जाता है वही याद रहती है और अव्यवहार लिपि का भाषा भूल जाती है। फिर दोनों लिपियों का दोनों भाषाओं के बिना कोई धर्म नहीं होता और नों भाषाओं को राष्ट्र-भाषा बनाने से आठवर्ष में अन्तर्गत रूप से जायगा। दो भाषाओं की भावना की, ओर सभी धकेले संयुक्त प्रांत, सारे भारत में फैला देना न तो बुद्धिमानी है और न उत्तम कोई है। हिन्दी तो चल सकती है, परन्तु यह "लिपि और भाषा" कमी पर नहीं कर सकती और वे इसका पूर्णक उसे सीखेंगे भी चूंकि उनका कोई तार्कालिक कार्य उसके बिना अधिद नहीं है।

जिस दृष्टि से देखिये, हिन्दी के सिवा राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा किसी राष्ट्रीय भाषा में नहीं है। इसके विपरीत से यह कमी सफल नहीं हो सकता।

## राष्ट्र-भाषा का प्रश्न

(सम्पादकाचार्य अम्बिका प्रसाद वाजपेयी)

विधान-परिषद् भारत के विधान या शासन-व्यवस्था को अन्तिम रूप देने के लिए उसके मसौदे पर विचार कर रही है। इस समय उसे दो सम्बन्ध महावर्ष्य विषयों पर अपना अन्तिम निर्णय देना होगा। एक है कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में बसा रहे या उससे निकलकर अपने को स्वतन्त्र प्रजातंत्र घोषित करे, और दूसरा यह है कि भारत की राष्ट्र-भाषा क्या होनी चाहिए। ये दोनों प्रश्न ऐसे हैं जिन पर भारत की स्वाधीनता अवलम्बित है। ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में भारत के बने रहने से यह स्वतन्त्र नहीं रह सकता, राष्ट्र-मण्डल का पुष्टका बन जाता है। संसार के गोरे राष्ट्र जिन दो दलों में बँट गए हैं वन्हीं के परिचयी दल में यह रह जाता है और इस प्रकार दूसरे दल से अकारण बेर और वैमनस्य मोज़ होता है। इसके सिवा-ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के कई भागों की भारत से अलगवग भी है। इसीलिए भारत को ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल से निकल आने का ही निर्णय करना चाहिए।

दूसरा प्रश्न स्वतन्त्रता के सिवा हमारे स्वायत्तमान से भी सम्बन्ध रखता है। हमारे देश में अंग्रेजी भाषा के अनेक परिदृष्ट हैं। इनमें अधिकांश का मत है कि अभी हमारा काम अंग्रेजी से चलता है और यह संसार की बहुत बड़ी भाषा है। प्रायः २०-२०० करोड़ लोगों में इसका प्रचार है। यह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी है, इसलिये

राष्ट्र-भाषा मान लेना चाहे परन्तु ये विद्वान् आकाशदर्शी ज्योतिषी की भाँति आकाश पर दृष्टि रखते हैं, पृथ्वी पर क्या है इसका ध्यान नहीं रखते। अंग्रेज इस देश में छेद-दो-सौ वर्षों तक रहे, परन्तु हमारे देश में साक्षरता प्रचार तो उनके किये हुआ ही नहीं, अंग्रेजी शिक्षा की तो चर्चा ही व्यर्थ है। ३३ करोड़ भारतीयों में छे अंग्रेजों का ज्ञान कितने करोड़ को है? ऐ-नो दृष्टांमें जिस भाषा को वह ही देश में नहीं है, वह राष्ट्र-भाषा कैसे हो सकती है? इसके बिना दूसरे देश की भाषा को अपनाने से कैसे ही अप्रतिष्ठा होती है जैसे दूसरे देश के राजा को राजा मान लेने से।

इस कारण हमारी राष्ट्र-भाषा अपने देश की ही कोई भाषा हो सकती है। हमारे देश की प्राचिनिक भाषाएँ धार्य द्राविड़ भाषों से दो थोकों में बाँटी गई हैं। धार्य भाषाएँ आर्य और द्राविड़ चार हैं। आर्य धार्य भाषाओं में सिन्धु पाकिस्तान में चले जाने से भारत राष्ट्र में मान ही भाषाएँ नष्ट गयी हैं। ३३ कोटि भारतीयों में कोई ११-१२ कोटि तो धार्य-भाषा-भाषी और ७-८ कोटि द्राविड़-भाषा-भाषी हैं। इन्हीं में सम्बाओ, मुसहों, भीओ आदि तथा सामान्य की सीमा तथा पहाड़ों पर बने मीरी, मिरमी तथा गारो और जपन्तिया के लोगों की भाषाएँ भी सम्मिली आदि। इस विवेचन से सिद्ध हुआ कि बहुजन-समाज की भाषा ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है, इसलिए कोई धार्य भाषा ही राष्ट्रभाषा बनानी होगी।

धार्य भाषाओं में हिन्दी ही बहुजनसमाज की भाषा है, क्योंकि इसके बोलने वालों और समझने वालों की संख्या लगभग ९० करोड़ है। पटुंन जानी है। हिन्दी मध्यदेश की भाषा है, इसलिए हमकी सीमाओं पर जो अन्य भाषा-भाषी रहते हैं वे भी हिन्दी यदि बोल सके तो समझ तो अवश्य सकते हैं। वेही अवस्था में हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा बननी चाहिए। हिन्दी के साथ ही और हमारे 'महन्ती-मुसहरी' बड़े नुमाँ भाषा भी है जिसका नाम 'उर्दू' है। परन्तु

एक तो हिन्दो के समान इसका विस्तार नहीं है और दूसरे इसका रंग-रूप भारतीय नहीं है। उर्दू बोलने और पढ़ने-लिखने वालों की संख्या यदि बहुत बढ़ाकर भी मतलब, जो दिल्ली से लेकर इलाहाबाद तक फैली है, वे रह जाते हैं। परन्तु इस क्षेत्र के सभी लोग उर्दू नहीं समझते। इसलिए उर्दू वालों की संख्या डेढ़-दो करोड़ से अधिक नहीं हो सकती।

मुसलमान उर्दू की अपनी भाषा कहते हैं। यदि सचमुच उर्दू मुसलमानों की भाषा हो तो मुक्तप्रांत में, जो उर्दू का गढ़ है, मुसलमानों की संख्या प्रतिशत १५ से अधिक नहीं है। दिल्ली और उसके आस-पास भी मुसलमानों की बस्ती है। परन्तु गाँवों में रहने वाले मुसलमानों की भाषा उर्दू नहीं है। वे तो हिन्दुओं की तरह गाँवों की बोखियाँ ही बोलते हैं। लिखना-पढ़ना जो जानते हैं, वे उर्दू अच्छे से ही लिख-पढ़ करते हैं, परन्तु भाषा का साहित्य नहीं समझ सकते। बिहार में मुसलमानों की संख्या ५ प्रतिशत है तथा महाकौशल में २५ भी नहीं है। हम यह मानते हैं कि दिल्ली और मुक्तप्रांत में और पश्चिमी जिलों में कुछ हिन्दू भी उर्दू साहित्य के ज्ञाता और पाखी हैं। जिनमें सर तेजबहादुर सप्रू तथा पुराने आरमोरी साक्षियों और कायस्थों की गिनती होती है। यद्यपि इधर उर्दू का प्रचार देश में बहुत घट गया है और सर तेजबहादुर आदि के परिवारों में भी हिन्दी का साप्राभ्य स्थापित हो चुका है, तथापि उर्दू भाषा भी एक भाषा है। पर यह इतनी धोरी है कि राष्ट्र-भाषा हो नहीं सकती। उसकी जड़ तो स्वदेशी है, क्योंकि हिन्दी की विभक्ति, शब्द, क्रियापद, व्युत्पत्ति, अक्षर और सर्वनाम तथा संज्ञा उसका मूल-आधार है, तथापि इस पर फ़ारसी और अरबी की इमारत उठाई गई है। यद्यपि भी स्वदेशी नहीं है। इसलिए यह व्यवहार में निंद्य है।

आज तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में प्रायः ४१ करोड़ अनुसूचितों का वास है, पर १९०१ में कायदा भारत-भर में २२ करोड़ लोग अनुसूचित थे। उस समय पावली प्यरिगटन थे, जिनका 'भाषा-भास्कर' नाम

व्याकरण प्रसिद्ध है, अपने 'स्ट्रैट्स ग्रामर' आदि हिन्दी हेंगवेज की मूक्तिका में लिखा था—

“हिन्दी सम्भवतः दार्द क्कोड़ भारतवासियों से कम की मातृ-भाषा नहीं है। यह पश्चिमोत्तर प्रदेश, पंजाब, राजपूताने के बड़े भाग, मध्य-भारत और बिहार-भर में बोली जाती है, और जिस रूप में इसका प्रयोग बंगाल में होता है उससे यह सिखों, गुजरातियों, मराठों और मैसालियों तथा और जातियों की समस्त में बोल जा जाती है, जिनकी अपनी अपनी बोलियाँ हैं। वह चाहे इस मूल-भाषा के विस्तार का विचार करें जिसमें यह बोली जाती है अथवा उसके बोलने वालों की संख्या और जातियों के सहस्र का विचार करें। कुछ भी हो, हिन्दी उत्तर भारत की भाषा मानी जा सकती है।

“वेसा ही दावा मुसलमानों की भाषा उर्दू के लिए भी किया जाता है, जो अपेक्षाकृत छोटा समुदाय है। परन्तु यद्यपि उत्तर भारत के शहरों और बहुत-से बड़े कस्बों में दूसरी भाषा के रूप में बहुतेरे लिखित हिन्दू भी उसे बोलते हैं, तथापि उर्दू का प्राधान्य भारत के किसी प्रदेश पर नहीं है, और अथवा वेसा है कि मुसलमानों के निवाह किसी धरोहर के लोगों की भाषा नहीं हो सकती।”

दार्द क्कोड़ हिन्दी-भाषियों की संख्या बताकर नीचे लिखी में लिखते हैं:—“बात को बड़ाकर न कहने की दृष्टि से यह लिखा था था; परन्तु हाथ की निरवमनीय जानकारी से मेरी प्रवृत्ति यह विचारने की होती है कि भारत की हिन्दी-भाषी जन-संख्या २ करोड़ से कम नहीं हो सकती। निरवमनीय ही सब सांख्यिक भाषाओं से हिन्दी एक विस्तृत भाग में बोलती जाती है।”

उनके राष्ट्रभाषा १९ के दावे को पादरी जम्स० एन्थोपॉल ने ३१ वर्ष पहले ही खारिज कर दिया था। वह यह समझ था, कि हिन्दू धर्म के स्तंभों में कुछ आर्यी-आर्यी बड़ा करने से जो भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में थी नवोदय नमः के बड़े हिममिश्रित

उरहीमान उरहीम कहकर बच्चों को अचरान्म कराते थे । उस समय हिन्दी को राज्याभय तो था ही नहीं, वह तिरस्कृत अवस्था में दिन क रही थी । परन्तु उसका महत्त्व जब उस समय था तब तो आज के मद्रास में भी पहुँचकर वह लाखों स्त्री-पुरुषों और बच्चों की राष्ट्र-भाषा बन चुकी है, तब उर्दू का उसकी जगह लेने का प्रयास अनपेक्षित रूप से सिखा कुछ नहीं है । उर्दू में साहित्य है और उसे उन्नत करने में निजाम आदि सुमन्वमान नवाबों का बड़ा हाथ रहा है । इसका सम्बन्ध आरबी फारसी से रहने के कारण देश उसे कैसे राष्ट्र-भाषा बना सकता है ? उर्दू की लिपि का सम्बन्ध फारसी से है, भारत किसी भाषा से नहीं । इसका सीखना तो सहज है ही नहीं, पर इन्हें शब्दों का बच्चे-विस्थापन ब हिम्मे करवा कठिन है । हिन्दुस्तानी सौदा-मुश्क के सिवा किसी काम नहीं आ सकती । उर्दू के खेसक हाथ में उर्दू बन जायगी और हिन्दी-खेसक के हाथ में हिन्दी जायगी ।

उर्दू के बाद राष्ट्र-भाषा उर्दू का एक भारतीय भाषा भी बन सकती है जो आर्यभाषा ही है । वह बंगला है । बंगालियों में अपभ्रंश भाषा का ही नहीं, अपने बंगालीपन का भी बड़ा अभिमान है । कबीर रवीन्द्रनाथ की नीचे प्राज्ञ क्या मिला, बंगला भाषा के अभिमान की अमीन पर पैर ही नहीं रखते । वे कहते हैं कि बंगला भारतीय भाषाओं से उन्नत है, इसलिए यही राष्ट्र-भाषा होनी चाहिए । बंगला के मुकाबले में हिन्दी कुछ नहीं है, इसलिए वह राष्ट्र-भाषा बन काम नहीं कर सकती । परन्तु यदि विधान-परिषद् इतनी प्रज्ञावाय कि यह हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा बनाना निश्चय कर ले, तो बंगला को भी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिए । ऐसा करना कुछ अविचार नहीं है, क्योंकि स्वीजरलैंड और रूस में एकाधिक भाषाएँ राष्ट्र-भाषा हो रही हैं ।

बंगला को राष्ट्र-भाषा बनाने के उद्योगियों का दिमाग इतना ख

गया है कि ये वहाँ तक बढ़ गए हैं कि उनके ज्वान में यह भी आता कि उनके पूर्वजों ने बंगला को इस योग्य कभी नहीं उड़ाया। राजा राममोहनराय ने जब १८२४ में 'बंगल' निकाला था, भी हिन्दी का दर्जा बढ़ा था। वह आज़क़र के बंगालियों की तरह थे, जो हिन्दी में जानने पर भी उसमें राष्ट्र-भाषा के गुण नहीं मानते। वह हिन्दी, बंगला और फ़ारसी के जाना थे। इसलिए तीनों भाषाओं में 'बंगल' निकाला था। मुयज़्जमाली अमलदारी सभ हो जाने पर भी फ़ारसी उन दिनों वही काम करती थी, जो आज फ़्रेंच करती है। बंगला तो बंगाल की भाषा थी, इसलिए अभी नहीं-ही हिन्दी ने भारत के बड़े भाग की भाषा होने के कारण ही उसमें स्थापना पायी थी।

बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जी, जिनके 'वन्देमातरम्' गीत को राष्ट्रीय बनाने के लिए बंगाली सज़न आग्रह कर रहे हैं, मधुसूदन अय्यर क्योंकि भविष्य-द्रष्टा थे और 'अपिदेशानम्' से दर्शन करने या देश बाला ही अय्यर कहा जाता है। उन्होंने ७१ वर्ष पहले अपने 'बंग-दर्शन' के २ वें खण्ड में बंगला सन् १२८४ में लिखा था :—

“हिन्दी भाषा साहाय्ये भारतवर्षे विभिन्न प्रदेशे मध्ये वाङ्मय बन्धन स्थापित करिते पारिवेन ताद्वारा प्रकृत भातवन्धु अभिहित-हृद्वा योग्य। सकते चेष्टा करून-यान करून यत दिन। हउक, मनोरथ पूर्ण हउवे। हिन्दी भाषाये पुस्तक ओ बचन। भारतेर अधिकांश स्थाने संगल-साधना करिबेन—केवल बाङ् ईराज़ी चर्चाय हउवेना। भारतेर अधिवासीर संख्या सदित तुजना करिये बांगलाओ ईराज़ी कलेजन लोक बजिते ओ पुक्ति पारेन। बांगला न्याय हिन्दिर उन्नति हउवेने ना हउर देशे दुर्माय्ये-विषय।”

अर्थात्, “हिन्दी भाषा की सहायता से भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में जो लोग ऐक्य-बन्धन स्थापित कर सकेंगे वे ही प्रकृत भारत

## श्री अम्बिकाप्रसाद याज्ञपेयी

बन्धु कहने योग्य है। पेप्ता कीजिए, धरन कीजिए, कितने हो।  
क्यों न हो मनोस्य पूर्व होगा। हिन्दी भाषा में पुस्तक और वचन  
द्वारा भारत के अधिकांश स्थानों का मंगल-साधन कीजिए—के  
बंगला और अंग्रेजी की चर्चा से काम न चलेगा। भारत के अधिकांश  
चार्मियों की तुलना करने पर बंगला और अंग्रेजी कितने लोग  
और समझ सकते हैं? बंगला की भाँति हिन्दी की उन्नति नहीं।  
ये देश के दुर्भाग्य की बात है।

आज से ४० वर्ष पहले भी बंगाली संपादकों में बंगला के वर्तमान  
अभिमानियों की-सी संकीर्ण प्रादेशिकता नहीं थी। उस समय  
सुरेन्द्रचन्द्र समाजपति 'वसुमति' के और पं० ब्रह्मचार्धव उपाध्याय  
'सम्भवा' के सम्पादक थे। श्री अरविन्द घोष 'कर्मजोगिन' और  
के सम्पादक थे। इन वर्षों में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा की घोषणा  
समर्पण किया गया था। पीछे 'तापस' आदि और कई वर्षों में  
हुमा। आम्बिकाजी दल के बंगाली युवक हिन्दी सीखने का यत्न  
से। अवरध ही उस समय कबीन्द्र रवीन्द्रनाथ को नोबेल प्राज्ञ  
मिला था और बंगला का जो महत्त्व आज बंगला के अभिमानियों  
समक्ष में आया है वह पहले किसी बंगाली विद्वान् की समक्ष में  
आया था। बाबू भूदेव मुकर्जी ने बिहार में हिन्दी-प्रचार कार्य से  
प्रारंभ किया था उसकी कहानियाँ आज भी सुनी जाती हैं।  
श्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्जी जैसे विद्वान् हिन्दी का राष्ट्र-भाषा  
स्वीकार करने हैं। परिचय बंगाल के वर्तमान शिक्षा-मंत्री बंगालि  
हिन्दी सीखने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

भारत-संघ में जो 'गाल है उसमें दो करोड़ की मस्ती भी  
है और 'गाली माई चाहते हैं कि बंगला भाषा ही यदि भारत  
राष्ट्र-भाषा न बनाई जाय तो कम-से-कम वह भी एक राष्ट्र-भाषा हो  
ही दी जाय, क्योंकि वह भाषा सब भारतीय भाषाओं से श्रेष्ठ  
परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि बंगला भाषा में बड़ी विभिन्नता



भारत में हिन्दी का बोलचाल भी समझना उतने ही ज़रूरी है। यही कारण है, यहाँ हिन्दी से ही काम निकालना पड़ता है। ऐसी ही भाषा का महत्त्व बढ़ाने और बंगला का बढ़ाने का यत्न करना है। डॉ० सुनीलकुमार चाटुर्जी ने तो चीन में दो चीनियों हिन्दी के सहारे ही तब किया था।

महिमा के विषय में इतना ही बताना बहुत है कि यह भाषा और इसकी लिपि संस्कृत लिपि होने के कारण प्रचलित है। मध्य देश भारत का हृदय है। यहाँ गंगा-विश्व नदियाँ हैं। गंगा जैसा तीर्थ-क्षेत्र है जहाँ विषद-दान करने वाले पितरों का उद्धार करते हैं। साथ मोक्ष-दान करने इस भू-भाग में ही है। शक्ति यद्यपि गुजरात में है हिन्दी का बोल-बाला है। यहाँ की भाषा लामिका है सही गंगा के किनारे-मैत्री श्री होम्सनाथ मुकुर्जी का कहना है हिन्दी से काम चल जाता है। चारों भाषों की यात्रा ही मनुष्य कर सकता है। द्वाइश ज्योतिर्लिंगों में ० ही है। जो लोग इन स्थानों की यात्रा करते हैं, उनकी ही, हिन्दी के द्वारा काम चलाने हैं। इस प्रकार हिन्दी ही बनी है।

भाषाओं से कार्य भाषाओं की मिश्रता भाषा-शास्त्री बताने का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और दक्षिण में संस्कृत उत्तर की अपेक्षा अधिक ही है। हिन्दी बंगला की भाँति ही बोल नहीं सकती, पर अब उसे राष्ट्र-भाषा का उद्योग अब उसकी सब शक्तियाँ दूर हो जायगी।



# भारत की राष्ट्र-भाषा और लिपि

( महापरिचय राष्ट्र सांस्कृत्यायन )

हमारा देश जब बह नहीं रहा, जो सदियों से बसा आ रहा था । जिस बल भाषा का हिन्दी-भार-भारी भाषा परचम हुआ उस बल हमारा हिन्दी का वह रूप गुजरात, कन्नौज, पटना में बोला और लिखा जाता था, जो सातवीं सदी में आरम्भ हुआ था और जिसके अमर-शैलक सरह, श्वभू, गुणरत्न एवं हरिप्रद आदि थे । भाषा हमारी ही जैसी थी, किन्तु वह तद्भव का रूप था । उस समय के बाद हमारी भाषा दासों की भाषा समझी गई । कारसी ने दरबारों और कचहरियों में अपना स्थान जमाया । धीरे-धीरे हिन्दी उस दब-नीच दशा पर पहुँची, जब कि उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में कश्मीर की ने 'देव सागर' लिखा । फिर उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारतेन्दु और उनके साथियों ने हिन्दी को अपना स्थान दिखाने के लिए भाषा रूप प्रदान किया । स्वर्गीय गोविन्द बल्लभ पंत, बालगंगाधर तिलक 'प्रेमचन', रामावतार तर्मा, महाशय प्रसाद द्विवेदी, श्रीर पण्डित आदि कितने तपस्वी और मुनि जो स्वयं देखते करते गए, वह भाषा पुरा हुआ । आज फिर अपने प्राचीनतम रूप अर्थात् हिन्दी का भौति हमारी हिन्दी स्वतन्त्र भारत को सम्भावनीय भाषा का रूप प्राप्त कर रही है । साथ ही सदियों का अन्तर है । हमने दिनों में

अन्तर्धान के बाद हिन्दी-सरस्वती पुनः बड़े वेग से अपने स्थान पर प्रकट हुई है और आज उसका दायित्व और कार्य-क्षेत्र बाहरी सरी से कहीं अधिक है। यद्यपि दरबारों में उस वक्त भी उसका सम्मान था, किन्तु कागज-पत्र भी लिखे जाते थे, तो भी अभी सबसे बड़ा स्थान मातृ-भाषा को नहीं, बल्कि संस्कृत को प्राप्त था। संस्कृत का कवि तो 'ताम्रवृक्षमालम्ब्य समते' और शास्त्र-शास्त्रों में भी संस्कृत का होता था। आज हमारे हिन्दी-भाषा-भाषी प्राणों में हिन्दी के सर्वा होने में कोई बाधा नहीं डाल सकता। उसे हिन्दी-प्राणों स्वाभाविकों, पार्श्वमेष्टों और सरकारी शासन-यंत्रों की ही भाषा बनना है, बल्कि आज के विकसित विज्ञान की हर एक शाखा अध्ययन का माध्यम भी बनना है। यह बहुत भारी काम है। हमें निश्चय है कि हमारी हिन्दी उसे सहज बहन होगी।

आज फिर भारत एक संघ में बढ हुआ है। हमारे भारत-न की कोई एक भाषा भी होनी आवश्यक है। संघ-भाषा के बारे में कुछो-से लोग अपने व्यक्तिगत विचार और रुचिनाओं को लेकर वादाश्रय . चाहते हैं। हम पूछेंगे कि जब संघ के काम के लिए भाषा बोझी जाने वाली सभी भाषाओं को लेना सम्भव नहीं तब किसी भाषा को हमें सर्वोत्तम करना ही होगा।

आश्चर्य करने की बात नहीं है, यदि जब भी कुछ दिमाग व सोचने का बल नहीं उठाने और जब भी चौधौरी भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने का फैसला करने हैं। यह भी राजनीति के अभिप्राय व व्यवहार है। इन्होंने अंग्रेज़, जोड़ किसी भारतीय भाषा पर अधिकारी नहीं बाधा, सदा मादरों हाट में रहे और कभी लक्ष्य भी नहीं भिन्न कि देश की जनता भी किसी भाषा से सम्बन्ध रखती है और उसके मादर, वहीं तक कुछ मादरिभ का सम्बन्ध है, विरल की किसी भाषा से सीधे नहीं है।

बनाने की कोशिश नहीं करेगा। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि हमारे रेडियो अब भी अंग्रेजी के अधिक प्रचार का साधन बन रहे हैं। उन्हें फ़ॉरेन और हस्ती रेडियो के प्रोग्रामों को देखना चाहिए कि वहाँ कितने प्रतिशत मिनट प्रोग्राम अंग्रेजी में चलते हैं।

सवाल है—हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं और दोनों विषयों को भी क्यों न सारे सच की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि मान लिया जाए ? पूछता है : अपनी मातृ-भाषा और उसके साहित्य के पढ़ने के साथ-साथ क्या दूसरी भाषा 'अब बोल उठाया जायगा' व्यवहार और बुद्धिमानी की बात है ? संघ की राष्ट्र-भाषा सिर्फ एक होनी चाहिए। इंग्लिश-फ्रेंच की तीन भाषाओं का दृष्टि हमसे यहाँ छागू हो सकता था, यदि हमारा देश एक सदस्य या समुदाय के बराबर होता। हमारे यहाँ जो उदाहरण छागू हो सकता है वह है सोवियत-संघ का, जहाँ १६ भाषाएँ बोलनी व लिखनी आती हैं। इतिहास भाषाओं में तो अब भी ६०-६५ प्रतिशत तक संस्कृत शब्द मिलते हैं—वही संस्कृत शब्द जो उचरी भाषाओं में हैं, किन्तु सोवियत की मंगोल व तुर्की सम्बन्ध की पचासों भाषाओं का हस्ती भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं। तब भी वहाँ के लोगों ने संघ की एक भाषा मानते वक्त हस्ती को वही स्थान दिया, क्योंकि वह दो-तिहाई जनता की अपनी भाषा थी और देश में भी बहुत दूर तक प्रचलित थी। हिन्दी का भी वही स्थान है। इसलिए एक भाषा रखते वक्त हमें हिन्दी को ही खेन होगा। हिन्दी-भाषा-भाषी बहुत भारी प्रदेश तक फैले हुए हैं। हवाम ही नहीं, बरिह आसामी, बंगाल, उदिया, मराठी, गुजराती, पंजाबी ऐसी भाषाएँ हैं जो हिन्दी आने वाली के लिए समझने में बहुत आसान हो जाती हैं, उनका एक-दूसरे का बहुत निकट का सम्बन्ध है। मैंने उदिया नहीं पढ़ी थी और न उसे सुनने का पैसा भी था। मैंने जा। लेकिन गलत वर्ष कटक में मैं एक नाटक देखने गया। मैं दर

संवाद को मैं ८० मैकडा समझ गया, और उदियः भाषा ने अपने मौन्दर्य में मुझे बहुत आहूट किया । मैंने यात्रा, दर्शन और राजनीति के सम्बन्ध में गुजराती, मराठी, उदिया, बंगला-भाषा-भाषियों के सामने कितनी ही बार व्याख्यान दिये हैं और भारी संख्या में उनके माव-धानकार्यक सुनने से सिद्ध था कि वे हिन्दी समझ लेते हैं । हाँ, यहाँ इस बात का जरूर ध्यान रखना पड़ता था कि हिन्दी में अब-तक बाने वाले अरबी-फारसी शब्दों की जगह तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया जाय । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि अरबी-फारसी । छद्मी उद् भाषा को भारत के दूसरे भाषाओं पर लादा नहीं जा सकता और छिपि ! उद् छिपि, जो कि वस्तुतः अरबी छिपि है, इतने अपूर्ण छिपि है कि उसे कुछ बहुत-से इराजामी देशों से देश-निकास दिया जा चुका है । उसको लादने का खयाल हमारे दिम में आन नहीं चाहिए ।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने के लिए जब कहा जाता है तो कहीं-कहीं से आवाज निकलती है—हिन्दी वाले सारे भारत पर हिन्दी का साम्राज स्थापित करना चाहते हैं । यह उनका बूझा प्रचार है और वह हिन्दी भिन्न-भाषा-भाषियों के मन में यह भय पैदा करना चाहते हैं कि हिन्दी के संघ-भाषा बनने पर उनकी भाषा का साहित्य और अस्तित्व मिट जायगा । यह विचार सर्वथा निर्मूल है । अपने चित्र में वहाँ की भाषा ही सर्व-सर्व होगी । बंगाल में प्राथमिक स्कूलों व यूनिवर्सिटी तक, गाँव की पंचायतों से प्रांत की पार्लेमेण्ट और हाईकोर्ट तक सभी जगह बंगला का अधुषण राज्य रहेगा । इसी तरह उड़ीसा, पंथ, तामिळनाड, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब और आन्ध्र में भी वहाँ की भाषाओं का साहित्यिक और राजनैतिक दोनों क्षेत्रों में निरबाध राज्य रहेगा । हिन्दी का काम तो वहाँ ही पड़ेगा, जहाँ

क जगह अधिकारिक मिलेंगे तो उनके आपसी व्यवहार के लिए कोई क भाषा होनी चाहिए ।

✓ इतिहास हमें बतलाता है कि ऐसी भाषा, भारत में जब-जब राज-  
विक एकता या अनेकता भी रही, तब-तब मानी गई । अशोक के  
ऐजाबेसो की भाषा मैसूर, गिरनार, जौगल ( उड़ीसा ) और काबली  
( देहरादून ) इसका प्रथम प्रमाण है । फिर संस्कृत ने माध्यम का स्थान  
लेवा, यद्यपि इसमें संदेह है कि यह कचहरियों और दरबारों की बहु-  
विक्रिष्ट भाषा न थी । अपभ्रंशकाल ( ७-१३ वीं सदी ) में हम  
पासम से गुलबान, गुजरात-महाराष्ट्र से उड़ीसा तक अपभ्रंश भाषा  
कवियों की कविता करते पाते हैं । उनमें कितने ही दरबारी कवि हैं ।  
इस अपभ्रंश भाषा में इन सारे प्रदेशों की भाषा का जोश मौजूद है,  
परन्तु उनकी शिष्ट-भाषा अथवा और राज के बीच की भूमि-पंचाल-  
की भाषा थी, जिसका मुख्य नगर कम्बोज मौखरियों के समय से राहु-  
वारों के समय ( ६-१२ वीं सदी ) तक उत्तरी भारत का सबसे बड़ा  
राजनैतिक और सांस्कृतिक केन्द्र रहा । इस तरह अपभ्रंश उस समय  
सारे भारत में बड़ी काम कर रही थी, जो गैरसरकारी तौर से आज तक  
और सरकारी तौर से आगे हिन्दी को सारे भारत में करना है ।

हिन्दी को हिन्द-संघ के ऊपर राष्ट्र-भाषा के तौर पर खारने का  
सवाल नहीं है । यह तो एक व्यवहार की बात है । सुसंलभानी शासन-  
काल में भी कितनी ही हमारी अन्तर्प्रान्तीय साधु-संस्थाएँ रही और  
वे आज तक चली आ रही हैं । उन्हीं को देखिए, किस भाषा को उन्होंने  
सुव्यवहार्य समझ कर अपना भाषण और लिखा-पढ़ी के लिए स्वीकार  
किया ? संन्यासियों या वैरागियों के अखाड़े और स्थान आकर देखिए  
यह समुद्र की तरह हैं, जहाँ सचमुच ही सैकड़ों नदियाँ आकर मिलती  
हैं और नाम रूप विहाय समुद्र बन जाती हैं । इन अखाड़ों की बड़ी-  
बड़ी जमातें बजती हैं, और कुम्भ के मेलों के वक्त तो उनकी संख्या  
आसों तक पहुँच जाती है । यहाँ जाकर पता लगाइये कि साक्षात्तरी,

तेलंगू, नेपाली, बंगाली, पंजाबी और सिंधी साधु-संन्यासी हिम में आपस में बातचीत करते हैं ? हिन्दो में और मिर्क हिन्दो में । इ गांधी जी के दक्षिण हिन्दी-भाषा-प्रचार में कोई सम्बन्ध नहीं है । हमारी आज की हिन्दी संस्थाओं से सदियों पहले से यह काम हो है । असाढ़ों में रही अब भी आपको दो-दो सौ वर्ष की और पुरानी भी बहियाँ और चिट्ठियाँ इस बात का सबूत देंगी । १ अस्सो के एक प्रतिनिधि अनिकेचनगिरि ने १८९९ सन्वत् ( १९ ई० ) में सोविदल के बाहू नगर के पास ज्वाला जी के मन्दिर स्थिति श्री नरपति विक्रमादित्य राज साके ॥ श्री ज्वालाजी निमज बाजा बणवाः अतिकेचनगिरि संन्यासी रामदहावामी कोटेश्वर मा का ॥...अमौत्र बदी ८ सन्वत् १८९९ ॥”

अस्तु, इससे यह तो साफ है कि जब-जब व्यवहार की बात तब-तब हिन्दी ही सारे भारत की संतर्प्राप्तीय भाषा स्वीकार की यदि इस पुराने तत्त्वसे को नहीं मानते हैं तो चाहे तो फिर तत्त्वसे हैं । हिन्द-भाषा-भाषियों की अलग रखकर पंजाबी, आमासी, बंगाली, उडिया, आन्ध्र, तमिल, केरल, कर्नाटकी, मराठी, गुजराती लोगों को ही व्यवहार से इसके बारे में फैसला करने के लिए छोड़ दें । मैं समझता हूँ, यदि वे सारे भारत की एकता के पक्षपाती हैं तो उनका तत्त्व-रूप भी हिन्दी ही के पक्ष का समर्थन करेगा ।

✓ राष्ट्र-भाषा हिन्दी स्वीकार करने पर भी कोई-कोई भारी रोमन-जिपि स्वीकार करने के लिए कह रहे हैं । क्या वह अधिक वैज्ञानिक है ? वैज्ञानिक का मतलब है—जिपि से उच्चारण से अधिक अनुस्मरण होना—खेकिन रोमन जिपि के २६ अक्षर हमारे सारे उच्चारणों को प्रकट नहीं कर सकते । नागरी अक्षरों में हम सबसे ज्यादा कुछ रूप से किसी भी भाषा को लिख सकते हैं और बिना बिद्ध लिये । बिद्ध देने-पर रोमन में लिखने पैदाद आनावे जाते हैं, उनसे कम ही लिखों को जगाना नागरी

रा हम दुनिया की हर भाषा के शब्दों को उच्चारणानुसार लिखते हैं। इसलिए जहाँ तक उच्चारण का सम्बन्ध है, हमारी भारतीय दुनिया की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है।

रहा सवाल ग्रेस और टाइपराइटर का, तो उसमें कुछ माझूजी का अर्थ की आवश्यकता अवश्य है, और वह सुधार संयुक्त-अक्षरों के अक्षरों के हटाने, मात्राओं को 'अ' के ऊपर लगाने तथा दूसरे अक्षरों के अक्षरों के शरीर को अपने शरीर तक समेट कर किया जा सकता है। इससे हिन्दी टाइप की संख्या ५८२ की जगह १०४ आसानी। अंग्रेजी में १४० टाइपों का फॉन्ट होता है। अंग्रेजी की टाइप छोटे-बड़े अक्षरों का अनावश्यक बोझ हमारी लिपि पर न होने टाइपराइटर में धीरे सुविधा है, और अंग्रेजी टाइपराइटर के बोझ की सारे टाइप कम जाते हैं।

इस प्रकार सारे संघ की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि हिन्दी ही होनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि उर्दू पढ़ने वालों के लिए सुविधा न दी जाय। हर एक को अपनी भाषा और अपनी लिपि पढ़ने का अधिकार होना चाहिए। जो उर्दू भाषा-भाषी अपनी शिक्षा उर्दू भाषा द्वारा लेना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वे स्कूलों ही में नहीं, चाहें तो अल्लोमद यूनीवर्सिटी में उर्दू की माध्यम रख सकते हैं। लेकिन जो समय सामने आ रहा है, उसे खलते हुए मैं उन्हें परामर्श दूँगा कि लिपि के आव्रह को छोड़कर उर्दू के लिपि भी वे अपनी लिपि को अपनायें। अगुलिर परिचामी लिपि के सामिक और तुर्की भाषाओं को अरबी लिपि से सम्बन्धित कर लेने पर हानि नहीं, बल्कि बहुत भारी क्षाम हुआ है। अविद्यत की ये भाषाएँ कभी लिपि में लिखी जाती हैं, जो ३२ अक्षरों की होने से रोमन से कहीं अधिक वैज्ञानिक है।

कोई-कोई उर्दू बाली कहने लगे हैं कि क्यों न रोमन लिपि को अपनाया जाय ? यदि हिन्दी (भाषा) लिपि अरबी लिपि को तरह :



ए होती तो हमें रोमन लिपि अपनाने में कोई उबार न हो।  
रोमन पक्ष-पाती उर्दू वाले भाइयों को नागरी जैसी लिपि  
ने में आनाकानी क्यों ? सिर्फ इसलिष्ट कि अगर अरबी लि  
है तो साथ साथ हिन्दी लिपि का भी वेदा गर्क हो ।

उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियों से चला आया  
किन्तु नवीन भारत में कोई भी धर्म भारतीयता को पूर्णतः  
किये बिना फल-फूल नहीं सकता । ईसाइयों, पारसियों व  
की भारतीयता से एतराज नहीं, फिर इस्लाम ही को क्यों,  
की आत्म-रक्षा के लिष्ट भी आवश्यक है कि वह उसी तर  
जान की सम्पत्ता, साहित्य, इतिहास, वेश-भूषा मनोभाव के सा  
ता करे, जैसे उसने तुर्की, ईरान और सोवियत मध्य एशिया में  
थों में किया । धर्म को समाज के हर क्षेत्र में घुसेटना आज वे  
में बढ़ावा नहीं किया जा सकता । अभी हमारे राष्ट्रीय मुसल  
आई भी नहीं समझ पाये कि उनकी मत्तानों को नव भारत  
सक जाना है । नवीन भारत ऐसे मुसलमानों को चाहेगा, जो  
र्म के पक्के हों, किन्तु साथ ही उनकी भाषा वेश-भूषा, और  
न में दूसरे भारतीयों से कोई अन्तर न हो; भारत के गौरवपूर्ण  
के प्रति आदर रखने में वे दूसरे से पीछे न हों । भारतीय संघ  
मानों की भी आज की तीसरी पीढ़ी में हिन्दी के अध्ये-अध्ये  
। खेसक उसी परिमाण में होंगे, जिस परिमाण में वे आज  
हैं । वह समय भी नजदीक आया, जब कि हिन्दी-साहित्य-  
का समारोह कोई हिन्दी का पुरंधर साहित्यकार मुसलमान  
प्रालिख पाकिस्तान के आधे से अधिक हिस्से में अरबी लिपि  
निमित्त भाषा न होने से पूर्वी बंगाल में इस्लाम को खतरा  
देर हिन्दी से उन्हें क्यों खतरा मालूम होगा ?

संघ की राष्ट्र-भाषा के अतिरिक्त हिन्दी का अपना विशाल  
इरिषाना, राजदूताना, मेवाड़, माझपा, मध्य प्रदेश, गुजरात

और बिहार हिन्दी की अपनी भूमि है। यही वह भूमि है, जिसने हिन्दी के आदिम कवियों सरह, स्वयम्भू आदि को जन्म दिया। यही भूमि है, जहाँ भरवचोष, कालिदास, भवभूति और बाण पैदा हुए। यही वह भूमि है, जहाँ (मेरठ-अम्बाला कमिशनरियों) पंचाल (आगरा-सहेलखण्ड कमिशनरियों) की भूमि में पण्डित, विश्वामित्र, भारद्वाज ने ऋग्वेद के मन्त्र रचे और प्रवादण, उदात्तक और पातुवल्क्य ने अपनी दार्शनिक उदात्त कीं। इस भूमि के सारे भाग की हिन्दी मातृ-भाषा नहीं है, किन्तु वह है मातृ-भाषा जैसी ही। इस विशाल प्रदेश के हर एक भाग में सिधित, अ-सिधित, ग्राम्य और ग्रामीण सभी हिन्दी को समझते हैं। इसलिये यहाँ हिन्दी का राज-भाषा के तौर पर, शिक्षा के माध्यम के तौर पर स्वीकार किया जाना निश्चित स्वाभाविक है।

हिन्दी भारतीय संघ की राज-भाषा होगी और उसके आगे से अधिक लोगों की अपनी भाषा होने के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अब एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी। चीनी भाषा के बाद यही दूसरी भाषा है, जो इतनी बड़ी जनसंख्या की भाषा है। हिन्दी के ऊपर इसके लिए बड़ा दायित्व आ जाता है। हिन्दी की एक विशाल जन-समूह के राज-काज और यात-पीत की ही प्रज्ञाना नहीं है, बल्कि बत्ती की शिक्षा का माध्यम बनना है। फिर आज कल की शिक्षा सिर्फ कविता, कहानी और साहित्यिक निबन्धों तक ही सीमित नहीं है। विरय की प्रत्येक उन्नत भाषा का साहित्य अधिकतर साइन्स में ग्रन्थों पर अवलम्बित है। अभी तक जो साइन्स की पढ़ाई अंग्रेजी में अपने स्थिर पर ले रखी थी, किन्तु अब अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी का राज्य जा चुका है। सरह-स्वयम्भू से पन्त, निराशा, महादेवी तक का हिन्दी काव्य-साहित्य बहुत सुन्दर और विशाल है। पाठक धोकर सभी अंगों में विरय के किसी भी प्राचीन और नवीन साहित्य से उसकी तुलना की जा सकती है। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द ने जो परम्परा

बोली है, वह बतली जाने लगी है। हिन्दु सब हिन्दी में भाषा ज्ञान-विज्ञान जाना होता। कुछ लोग इसे बहुत भारी, जटिल मन्त्रियों का काम समझते हैं, परन्तु मेरी समझ में यह उनकी भूल है। चाहे जिस चीज को मँग हो, इसे साहित्य-जगत् में गृह्य करने वालों की कमी नहीं होती।

हमारे स्वतन्त्र देश के सामने बहुत सी भाषा-भारी काम हैं। हमारी विश्व-राज्यता ने हमें दुनिया के सीर देशों ने बहुत पीछे रखा है। विदेशी शासक हमी में अपना दिन समझते थे। सब मन्त्रियों को शिक्षा दिया को हमें क्यों में पूरा करना है। हममें साहित्य की सहायता सबसे अधिक आवश्यक है। हमें ऐसा साहित्य पैदा करना है, जो दुनिया की दीर्घ में जाने जाने में सहायक हो, न कि हमें पीछे छोड़े। निराशावाद के लिए मैं कहीं भी गुंजाहूत नहीं देखता। हमारे पास बुद्धि-बल है। हमारी भाषा-मर्दी गन्तुय बहुतधरा है। हमारे बहुत करोड़ हाथ हैं। हमें विश्व की सबसे बड़ी तीन शक्तियों में अपना स्थान लेना है। एगलिप्स भारत के हरेक पुत्र और पुत्री के विभ्रम लेने का मौका नहीं है। गहरी एक माथ लेकर जाने कदम बढ़ाना है। देश के औद्योगिकीकरण और कृषि को विज्ञान-सम्मत बनाने में हमारे साहित्य की बहुत बड़ा भूमिका लेना है। जाने पश्चीय साक्ष्य देश का सबसे अधिक कर्मठ जीवन होना चाहिए। हम भारत भाषा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करें।

विधान-परिषद् यदि हिन्दी को हमारे भारत-संघ की राष्ट्र-भाषा मान लेती है, तो वह उससे हिन्दी पर कोई दया नहीं दिखलाती; बल्कि अपने इस काम से अपनी व्यवहार-बुद्धि का परिचय देती है। आज कीजिए विधान-सभा में हमारे नेताओं ने जैसे-तैसे करके हिन्दु-स्तानी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करवा लिया। हिन्दुस्तानी का अर्थ है हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाएँ तथा भारतीय-और धरती दोनों लिपियाँ किसी प्रांतीय सरकार को अपनी सीमा के भीतर अपनी लिपि और

उर्दू भाषा के प्रयोग के लिए केन्द्रीय सरकार बाध्य नहीं कर सकती क्योंकि प्रान्तों को अपनी-अपनी राष्ट्र-भाषा चुनने का अधिकार मिल चुका है। इसी तरह केन्द्र के साथ व्यवहार करने के लिए उर्दू और हिन्दी भाषाओं की लिपियों में किसी एक को चुनने का अधिकार रहे। युक्तप्रान्त या बिहार से केन्द्रीय सरकार कभी भाषा नहीं रख सकती कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों में केन्द्र के साथ लिखा-पढ़ करे। यह स्पष्ट ही है कि जब तक प्रान्तों को दोनों भाषाओं और लिपियों के व्यवहार के लिए बाध्य नहीं किया जाता तब तक हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रान्तों में भीतर तथा केन्द्र के साथ लिखा-पढ़ी में व्यवहार किया जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ तक हिन्दी प्रान्तों का सम्बन्ध है, वह की राज-भाषा और राष्ट्र-भाषा दोनों ही हिन्दी होगी। फिर क्या उर्दू भाषा और लिपि का व्यवहार बंगाल, आसाम, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र और आन्ध्र आदि के मध्ये मढ़ा जाय ? हाँ यदि इन प्रान्तों के प्रतिनिधि उर्दू भाषा और लिपियों भी राष्ट्र-भाषा और लिपि के तौर पर रखने का आग्रह करते हैं, तो उन्हें खुद समझना चाहिये कि इसका फल उन्हीं की ओमना होगा। हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त अपनी मार्ग निश्चित कर चुके हैं; उन्हें जहाँ तक राज-कार्य का संबंध है, उर्दू भाषा से कुछ लेना-देना नहीं है।





हिंदी—राष्ट्र-भाषा के रूप में—शिक्षा का माध्यम हो । प्रारम्भिक शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा ही लेने पर विद्यार्थी को राष्ट्र-भाषा सीखने अथवा राष्ट्र-भाषा द्वारा सीखने में कठिनाई न होगी । इस पद्धति से मातृ-भाषाओं की रक्षा के साथ-साथ राष्ट्र-भाषा का भी हित है । किसी प्रांत के निवासी के मन में यह आशा का उत्पन्न न होगी कि उसकी मातृ-भाषा का खोप होने वाला है । और इनमें से कई भाषाएं तो ऐसी हैं जिनमें अच्छा साहित्य भी है । हिन्दी का जो रूप अब प्रचलित है वह कुछ थोड़े भाग को छोड़कर कहीं के निवासियों की, मातृ-भाषा नहीं है । परन्तु साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में यह इतना व्यवहार में है, सत्तर वर्ष से इसका इतना प्रचार हो गया है और भारतवर्ष की भाषाओं में इसकी इतनी प्रतिष्ठा हो गई है कि इसको सहज ही राष्ट्र-भाषा का पद मिल गया है । राष्ट्र-भाषा में ही दूसरी और उच्च धेड़ी की शिक्षा होनी चाहिए, परन्तु साथ ही अन्य भाषाओं में भी साहित्य-रचना होती रहे यह वांछनीय है । उदाहरण रूप में ब्रज-साहित्य इतना सुन्दर है और मगध-भाषा इतनी मधुर है कि इस साहित्य का भविष्य में अस्तित्व ही न रहे इसकी कौन साहित्य-प्रेमी अंगीकार करेगा ? हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कर्तव्य है कि वह इस साहित्य और इसी भाँति और साहित्य की भी उन्नति में सचेष्ट रहे ।

हिन्दी उर्दू दोनों—राष्ट्र-भाषा हिन्दी का स्वरूप बही होगा जिसमें समस्त भारतवर्ष के निवासी सुगमता से अपने विचारों को व्यक्त कर सकेंगे । इस देश की मुख्य भाषाओं में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है और संस्कृतमयी हिन्दी को ही सब प्रांतों के रहने वाले अपनायेंगे । उर्दू समस्या उर्दू की । यह समस्या तो केवल संयुक्त-प्रांत और पंजाब की है और वहाँ भी यहाँ तक ही सीमित है । देहातों में भी सबकी बोली एक ही है ।

यद्यपि प्रारम्भिक काल में उर्दू इस देश की बचपन भाषा थी और उर्दू के आदि कवियों ने इस देश की संस्कृति को सुरक्षित करने का

प्रयास किया था, तथापि सेद के साथ कहना पड़ता है कि काल-क्रम से उर्दू केवल फारसी का एक चम हो गई और उर्दू-साहित्य में भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति की कहीं झलक नहीं आती है। फिर भी उर्दू को भी उन्नति करने का अधिकार है और इसकी गति को रोकना अनुचित है। हम इसकी समृद्धि चाहते हैं, हम चाहते हैं कि वह भी फूले-फूले। उर्दू से हमें द्वेष नहीं है। किसी साहित्य-रसिक को किसी भाषा अथवा साहित्य से द्वेष नहीं हो सकता।

हिन्दुस्तानी मही उर्दू है—रही बात 'हिन्दुस्तानी' की। यह कौन भाषा है, कहां को है, किसकी है? इसका साहित्य कहां है? इस भाषा में कौन लिखता है? धर्म-शास्त्र, राजनीति, विज्ञान, दर्शन, इत्यदि विषयों पर ग्रंथ किस भाषा में लिखे जाते हैं? हिन्दुस्तानी के गढ़ने का प्रयोजन क्या है? प्रचलित भाषाओं को विकृत करना कौन-सी बुद्धिमत्ता है? क्या हिन्दुस्तानी में भाषुकता आ सकती है? क्या इसमें गूढ़ विषयों को व्यक्त करने की क्षमता है? हिन्दुस्तानी के जो लेख-ले उदाहरण हम देख सके हैं उसको तो मही उर्दू कहने में हमको संकोच नहीं है। उर्दू के वाक्य में हिन्दी के एक दो शब्द रखना भाषा-सौखी के साथ परिहास करना है। हिन्दुस्तानी आंदोलन से हिन्दी-संसार तो असन्तुष्ट ही है, उर्दू-जगत् भी प्रसन्न नहीं है। उचित मही है कि हिन्दी और उर्दू दोनों की गति अविरोध रहे।

अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग—बहुधा देता गया है कि म यदि अंग्रेज से मिलते हैं तो अंग्रेजों में उससे जाने करते हैं, बख्शियारी के निवासी से मिलते हैं तो उर्दू में बातचीत करते हैं। पन्तु बंगाल, महाराष्ट्र अथवा गुजरात प्रान्त के रहने वालों से बंगाली जाती अथवा गुजराती में बात नहीं करते हैं। अंग्रेज हमें 'गुरु-निंग' कहता है, उर्दू वाले 'सलाम वाले कुम' अथवा 'आदाब' कहते हैं, परन्तु हम उन्हें 'नमस्कार' या 'नमस्ते' कहने दिखाने हैं। 'वंदित सारथ' कहे जाते हैं, पर हमें 'मीठवी जी' कहने संकोच

होता है। हमें अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग करते हुए आनन्द और गर्व होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो आपस की बातचीत हमें शुद्ध हिन्दी में करनी चाहिए। जिस प्रकार की लिपिहीन बोझो का अभ्यास हमें करना पड़ा है उसे छोड़ना चाहिए। पिछले दिनों से प्रेस की एक महिमा प्रमाण में हिन्दी के अध्ययन के लिए मार्ग हुई थी। वह जर्नलों के संपादकों में भारतीय जर्नलों के साथ रहती थी। हमारी जर्नलों जब एक दूसरे से बात करती थीं तो बहुत-से अनावश्यक अंग्रेजी शब्द व्यवहार में आती थीं। इस प्रेस महिमा को आश्चर्य होता था और इसका प्रभाव इतना अच्छा पड़ा कि वहाँ की अन्य भारतीय जर्नलों शुद्ध भाषा बोलने का परम करने लगीं।

देवनागरी की विशेषता—इस कुछ दिनों से हमें यह आदेश मिलने लगा है कि प्रत्येक विद्यार्थी को दो लिपियों सीखनी आवश्यक होनी चाहिए—हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि। हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि कोई लिपि नहीं है। नागरी लिपि और फारसी लिपि है। देश की और प्रधान लिपियाँ ये हैं—बंगला, गुजराती, गुरुमुखी, तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम। इनमें देवनागरी को ही प्रधानता है। फिर यदि नागरी के साथ और कोई लिपि भी सीख सके तो अच्छा। आवश्यक है परन्तु हमारी लिपि वैज्ञानिक दृष्टि से इतनी शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से इतनी सरल है कि इसका स्थान हमारे लिए अनावश्यक है, अहितकर और असम्भव है। प्रत्येक प्रांत में नागरी और फारसी दोनों लिपियों को अनिवार्य बनाया करने पर बहुत बड़ा बोझ पड़ना है। देवनागरी की विशेषता यह है कि जैसी यह लिपि जाती है वैसा ही उच्चारण होता है। यह विशेषता न रोमन में है, और न फारसी में।



## राष्ट्र-भाषा हिन्दी

( भी भाषुराष विष्णु पराङ्कज )

✓ यह राष्ट्रीयता का युग है—यह राष्ट्रीयता जिसके बिना कोई भी कोई ज्ञानि, कोई भीम दण्डादीव क्षेत्र में अपना दर्शन यह था नहीं सकती । राष्ट्रीयता की एक कला यह है कि उसकी एक भाषा है । यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्र-भाषा सबकी मातृ-भाषा हो । राष्ट्र-अवयवभूत लोगों में बहुजन उसे समझे और उसके द्वारा-शाम-स्वाभाव आदि कार्य करें तो यह राष्ट्र-भाषा हो सकती है । मातृ-भाषा भी राष्ट्र-भाषा होती है पर यह राष्ट्र छोटे होते हैं तथा उसके अवयव भूत सब लोग वही भाषा पर में भी बोलने हैं । भारत अति विराट् देश है तथा इसमें संस्कृत से सम्बद्ध अनेक भाषाएँ बोलनी जाती हैं । इनके बिना अनेक अनार्य भाषाएँ भी बहुसंख्यक लोगों की मातृ-भाषाएँ हैं । अतः यहाँ की राष्ट्र-भाषा किसी एक समूह की मातृ-भाषा नहीं हो सकती बल्कि वही भाषा राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण कर सकती है जो हिमाचल से कन्याकुमारी तक सर्वत्र अस्पाधिक परिमाण में बोलनी या समझी जाती और अन्त-आवास में सीखी जा सकती हो । यह भाषा हिन्दी ही है और हिन्दी ही हो सकती है । मैं हिन्दी उर्दू के मूल-सम्बन्धी भागके में यहाँ पढ़ना नहीं चाहता, पर इतना कहूँगा कि उर्दू के भी आधार भूत (बेसिक) शब्द जिस भाषा के हैं वह भाषा

हिन्दी है। हिन्दी नाम उस भाषा का वह पड़ा था जब उर्दू नाम की कल्पना भी नहीं हुई थी। हिन्दुस्तानी नाम तो हाल का है और इसका प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया जाता रहा है। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा कहते हैं—“उन लोगों का मतलब हिन्दुस्तानी से उस जमान से था, जिसे उत्तर भारत के युक्त प्रदेश और अन्तर्बंद (कोषाव) के लोग और दिल्ली, मेरठ, आगरा आदि के रहने वाले मुसलमान बोलते थे; और जो दक्षिण के मुसलमानों में भी प्रचलित हो गई थी। जो मतलब इस समय आम तौर से उर्दू का समझा जाता है, वही मुताद इस हिन्दुस्तानी से थी—अर्थात् हिन्दी भाषा का वह रूप जिसमें विदेशी भाषाओं के शब्द अधिक हों।”<sup>७</sup> आजकल भी हिन्दुस्तानी से हमारे उर्दू-शैली भाई उर्दू ही समझने हैं और इसमें से चुन-चुनकर संस्कृत के उत्तम शब्द और अधिक-से-अधिक उद्भव शब्द भी निकाल बाखने पर तुले हुए हैं। वह प्रवृत्ति यदि केवल हिन्दी-रूपाियों और अरबी-फारसी के श्रेणियों में ही पाई जाती तो हम इसका विरोध न करते पर अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के प्रमाण-पत्र के साथ जिस भाषा का प्रचार राष्ट्र-भारा के रूप में किया जाने लगा है उसमें से भी हिन्दी प्रचलित शब्द निकाले जाने और अरबी के चढ़ाये जाने लगे हैं। हाल में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा द्वारा मद्रास में ‘हिन्दुस्तानी की पहली किताब’ प्रकाशित हुई है। पुस्तक के आरंभ में मद्रास मान्ड के प्रधानमंत्री के नाम लिखा हुआ मौलाना अबुलकलाम आज़ाद का प्रमेरी पत्र छपा है जिसमें आप कर्माते हैं कि इस पुस्तक में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह पास्तव में उस भाषा का नमूना है जिसे सर्व मानवीय भाषा बनने का स्वाभाविक

<sup>७</sup> ‘हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी’, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी० द्वारा इलाहाबाद से प्रकाशित; पृ० २६-३०।

अधिकार है। जीवाना अनुभवनाम आहार जिसे मांसाहारीय वा शाहीय भाषा बनने की अधिकारिणी समझने है वही यदि 'हिन्दुस्थानी' है तो मैं निःसम्भ्रम भिन्न से आदि-व-सामेजन को सजाह दूँगा कि निर्भीकता के साथ ग्राह शब्दों में यह हमका विशेष को। 'आलोचक' प्रकाशित 'पत्रिका' के वैतान्य संवत् १९१७ के पंथ में भी मित्र की शम्भुधर्म वर्मा ने वही बोधना के साथ हमकी समीक्षा की है और मैं हमका समर्थन करता हूँ। वर्माजी कहते हैं—“हम पुस्तक में हिन्दी भाषा के शब्द अनेकार्थक बहुत ही कम हैं और अरबी-फारसी शब्दों की भरमार है। अनेकार्थक, पुस्तक के भागों दृष्ट पर अक्षरम, जमजम, आसन्न आदि अर्थों के ऐसे विचित्र शब्द आते हैं जिनका मतलब शब्द मद्रास के अने-अने मुक्ता भी न समझने होंगे। और हमी तरह के शब्दों से पुष्ट हिन्दुस्थानी भाषा के सम्बन्ध में पुस्तक के आरम्भ में 'बच्चों से' कहा गया है—“यह हमारे देश के करोड़ों आदिमियों की ज़बान है और छोटे दिनों में देश के गारे लोग इसे समझेंगे।.....” इससे आपस का मेल-जोल और बढ़ेगा।” अरबी और फारसी के मुविक्क-से-मुविक्क शब्द तो इसमें बिचकुरा शब्द रूप में रसे गए हैं, लेकिन संस्कृत के सीधे-नगरे ‘असृत’ शब्द के भी हाथ पैर लीककर उसे ‘अमरत’ बना दिया है। पृ० २० में बताया है—“रामदास ने भी दादी से कहा—दादी-जी, नमस्ते।” यह है भाषा के नाम पर संस्कृति की हत्या। केवल शब्द ही नहीं, इस पुस्तक के वाक्यों की रचना भी उर्दू है, हिन्दी नहीं और इसको प्रकाशित किया है दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा ने! मेरा खयाल है कि सभा इस मामले में राष्ट्रनीति के दबाव में पड़ गई है। हिन्दुस्थानी नाम की जिस भाषा का प्रचार मद्रास-सरकार अपने स्कूलों में करने जा रही है उसके सम्बन्ध में उर्दू के अभिमानियों को सन्तुष्ट रखना ही प्रचारकों का मुख्य उद्देश्य मान्य होता है। एक पुद्गल कांग्रेस के भी नाम से मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़

गाईं है और इसका परिणाम बुरा हो रहा है। जिनके लिए भाषा के साथ-साथ, श्री रामचन्द्र वर्मा के कथनानुसार, संस्कृति की भी रक्षा की जा रही है वे तो कांग्रेस की ओर भाते ही नहीं, उल्टे उनके हृदय को चोर पहुँचाने लगते हैं जिनके कारण कांग्रेस का बीमोड़ है। साहित्य-सम्मेलन को चाहिए कि कांग्रेस के कर्णधारों का ध्यान इस ओर दिखाकर राष्ट्र-भाषा के नाम होने वाले इस अकारण-तारुण्य की समय रहते रोकने की प्रार्थना भजता किन्तु रक्षा के साथ करे।

हिन्दुस्तानी के नाम पर यह जो चर्च हो रहा है उससे केवल हिन्दी की ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिए भी मैं कहता हूँ कि हमारी राष्ट्र-भाषा का नाम हिन्दी होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति भी हिन्दी भाषा हिन्दी की होनी चाहिए। राष्ट्रों के सम्बन्ध में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। संस्कृत तथा विदेशों की प्राचीन और पुरातन भाषाओं से मिलने अधिक शब्द हिन्दी में आये हैं उसी ही उसकी सम्पत्ति बढ़ेगी और भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रकट करने में उसी ही अधिक सरसता होगी। जिस भाषा में वस्तु का सटीक शब्द हिन्दी में है उसी के पर्यायवाची अन्य शब्दों के लेने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए क्योंकि प्रथम-ग्रन्थ जो शब्द केवल पर्यायवाची होते हैं वे ही अण्डे खेसकों के हाथ में पड़कर एक ही भाषा के कई सूक्ष्म भेदों के स्पर्शक हो जाते हैं और इससे भाषा का सौन्दर्य और बल बढ़ाते हैं। पर इनका प्रयोग सावधानी से साथ करना चाहिए। संस्कृत कासम संज्ञा का विशेषण पुरानी कासम शब्द हो तो वह कर्ण-कट्ट होना है, भाषा साहित्य से कीसों दूर साग जाती है। उदाहरणार्थ 'अनुकरणीय बकादासो' ही लीजिये। कितना कर्णकट्ट लगता है। इसका अर्थ यह नहीं कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द एक साथ आने से ही भाषा कर्णकट्ट हो जाती है। अच्छे कवि और माझी कदा-कदा से शब्द और फूल लाकर सुन्दर गुलदस्ता बना देते हैं जो देखते ही बनता है। उदाहरणार्थ, उर्दू के आदि कवि बली के घर लीजिये—

तुम इशक में जल-जलकर सब तन को किया काजल,  
 यह रोशनी-अफजा है अँखियन को लगाती जा ।  
 तुम इशक में दिल चलकर जोगी का लिया सूरत,  
 एक बार अरे मोहन छाती सों लगाती जा ।  
 तुम घर के तरफ सुन्दर आना है बली दायम,  
 मुस्ताक है दर्शन का दुक दरस दिखाती जा ।

इन शेरों में संस्कृत और अरबी तत्सम और तद्भव शब्दों का कैसा सुन्दर मेल है । यह उस समय की भाषा है जब भारतीय और विदेशी शब्द एक दूसरे से मिलकर हमारी मातृ-भाषा का भण्डार और सौंदर्य बढ़ाने लगे थे । यदि उर्दू के कवि और खासकर मुसलमान कवि केवल शब्द बाहर से लाकर ही संतुष्ट होकर भारतीय भाषों की रक्षा करते होते तो निश्चय ही वे ऐसी भाषा तैयार करने में समर्थ होते जो वास्तविक अर्थ में राष्ट्र-भाषा बन जाती और उत्तर भारत में साहित्य की एक ॥ भाषा रहती । पर पहले तो मुसलमान कवियों ॥ फारसी लिपि को ग्रहण करने से उनकी हिन्दुस्थानी या उर्दू अपनी आध्यात्मिक हिन्दी से दूर-दूर जाने लगी । इस पर उन्होंने जब अपने लिपि व्याकरण और छन्द भी विदेश से मँगाये और उपनाम भी अरब फारस से आने लगे तब इन दोनों के बीच का अन्तर धीरे-धीरे बढ़ने लगा, यहाँ तक कि अब हिन्दी और उर्दू बिल्कुल भिन्न भाषाएँ समझी जाने लगी हैं । हमारे मुस्लिम कवियों को भारत की कोकिल न आई, फारस के चम-निरतान से गुलजुल को लाकर हमारे-घातके शृंगों पर बैठा दिया । -- उन्हें उपमा के लिए हम देश के अगाध-साहित्य में उपमान न मिले । यद्यपि दोनों गैरमुस्लिम थे पर उन्हें सुकराव और अफजाइन का अभिमान हुआ, कपिल, ध्याम की ओर से मुँह मोड़ लिया । परिसाम जो होना था, वही हुआ । क्या शब्दों में और क्या भावों में उर्दू-साहित्य बहिर्मुख हो गया । यद्यपि कुछ मुस्लिम कवियों ने भारतीय बनने का दर्शन किया और आज वह प्रवृत्ति पत्र-पत्र बढ़ती दिखाई देती

है फिर भी मुझे अपने उद्दों मिश्रों से यही भाव्य हुआ है कि उद्-  
प्रवाद केवल बहिर्मुख ही नहीं उसका उद्गम भी अब विदेशी भाव्य  
हो रहा है । जिसके साहित्य की भावना और रसि ही अपनी न हो वह  
कैसे राष्ट्र-भाषा बन सकेगी, इसका विचार विद्वज्जन ही करें ।

अप्य भाषाओं में से शब्द लेने में कोई आपत्ति नहीं करेय लेने  
चाहिए । पर इसके साथ एक शर्त है । शब्द मूलतः चाहे जिस भाषा  
के हों, पर जब हम से तो उन्हें अपना-सा बनाकर लें । अर्थात् उनकी  
ध्वनि हमारी भाषा की ध्वनि से मिलनी-जुलनी हो । मूल ध्वनि की रक्षा  
करने का ध्यान केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है । यह बात केवल  
अरबी-फारसी के ही नहीं संस्कृत के शब्दों में भी है, हाँ, संस्कृत-शब्दों  
का उच्चारण हिन्दी भाषा बोलने वालों के यान्त्रिक के लिए प्रायः स्वा-  
भाविक होने के कारण उनमें हिन्दी हो जाने पर भी अधिक परिवर्तन  
नहीं होता और अरबी-फारसी के शब्दों में होता है । पर यह अनि-  
वार्य है । अगर शब्दों का उच्चारण मूल में जैसा है वैसा ही बनाये  
रखने का ध्यान करने से ये कभी हमारे न होंगे । भाषा उभको हुआम न  
कर सकेगी, भाषा को उनसे बढ़झमी हो जायगी । इन्हीं शब्दों के  
सम्बन्ध ॥ दूसरी शर्त यह है कि ये हमारे व्याकरण के शासन में  
आ जाय । हम शब्द अप्य भाषाओं से ले सकते हैं पर उनके जिंग  
और वचन सम्बन्धी रूपान्तर हमें उस भाषा के व्याकरण के अनुसार  
न बनाने चाहिए जिससे ये आये हों । शब्दों को भावान्तरित होने के  
साथ-साथ व्याकरणान्तरित भी होना ही चाहिए । अंग्रेजी में हिन्दी से  
अनेक शब्द गये हैं, जैसे जंगल, पण्डित आदि । इनके बहु वचन अंग्रेजी  
भाषा के नियमों के अनुसार जंगल्स, पण्डित्स आदि होते हैं । हिन्दी  
संस्कृत के नियम लागू नहीं होते । हिन्दी में भी हम संस्कृत से शब्द  
लेते हैं पर उनके रूपान्तर अपने रंग से बना लेते हैं । उदाहरणार्थ  
‘पुस्तक’ शब्द संस्कृत है और यहाँ उसका बहु वचन पुस्तकानि होता  
है, पर उसके हिन्दी हो जाने पर बहु वचन हिन्दी व्याकरण के अनुसार

पुनर्जन्म होता है, न कि पुनर्जन्म। यह नियम चरित्र की, चरित्र-वर्णन के शास्त्रों में भी लागू होना चाहिए। उदाहरणार्थ, हमने 'गुरु' नाम को चरित्र की ही विधा है। इसकी व्याख्या भी थी। पर हमका बहुत बचन भी नहीं ले लेने की कोई व्याख्या नहीं है। हमने ग्रन्थ के नियमानुसार प्रथम में गुरु का बहुत बचन गुरु ही होता है और हमने दो गुरु, तीन गुरु आदि ही विधाना चाहिए, न कि दो कीट, तीन कीट आदि। रूढ़ियों में पढ़ाई जाने वाली गणित की पुस्तकों में 'कीट' देना हमें तो 'किट' आता है। 'सादक' हमने चरित्रों में लिखा है और वह नियम की बोल-बाल में भी आता है पर हमका बहुत बचन 'सादक' करना उसे हिन्दी न होने देना और हिन्दी की संग्रहों का साक्षात् बचाना है। 'स्टेशन' 'इस्टेशन' बचकर अपना अपने मूल रूप में, हिन्दी 'स्टू' में आया है। पर हमका बहुत बचन 'स्टेशन' हमने नहीं लिखा है। हम कहते हैं, 'राह में हमने कई बड़े-बड़े स्टेशन देखे' न कि 'स्टेशन' देखे। इसने उदाहरण काही है। तत्पर्य कहने का इतना ही है कि बाहर से शब्द मंगाने पर उन्हें अपना लीजिये—अपने व्याकरण के शास्त्रों में लाइये।

बाहर के सब शब्दों का स्वागत करने वाली हिन्दी ही हमारी राष्ट्र-भाषा हो सकती है और स्वभावतः है। हिन्दी का अर्थ है हिन्द की भाषा। 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' किसी जमाने में हिन्दू की भाषा समझी जाती रही होती पर आज हमारी हिन्दी हिन्द की भाषा है। इसका कोई प्रांतीय नाम नहीं है, यही इस बात का प्रमाण है कि वह सारे देश की—हिन्द की भाषा है। मराठी, गुजराती, बंगाली, तमिल, तेलगू आदि भाषाएँ प्रांतीय भाषाएँ हैं जो उनके नाम से ही पहचान होता है। पर हिन्दी सारे देश की भाषा है। इसका आधुनिक साहित्य अनेक प्रांतीय भाषाओं की तुलना में बड़ा होने पर जो वह राष्ट्र की जोड़ी-सी, परन्तु बहुमुख्य सम्पत्ति है, उसकी अपनी भाषा है। इसमें प्रांतीय अभिमान बिलकुल नहीं है, जो आज अन्य भाषाओं के सम्बन्ध

में नहीं रही जा सकती। प्रांतीय अभिमान के अभाव के साथ-साथ इसमें अन्य प्रांतों के सम्बन्ध में अवज्ञा-सूचक कोई शब्द भी नहीं है, यह भी इसकी राष्ट्रीयता का एक प्रमाण है। इसके छेखकों का लक्ष्य हिन्द होता है, कोई प्रांत विशेष नहीं। बंगाली 'बंग आमार, आमार देश' गा सकते हैं, 'महाराष्ट्र देश अमुचा' कहकर महाराष्ट्रवासी पूरे बंग नहीं समाले हैं, पर हिन्दी जिनकी मातृ-भाषा है उनके लिए तो 'भारत हमारा देश है' हिन्दी राष्ट्र के लिए, राष्ट्र के मुँह से बोलती है क्योंकि यह राष्ट्र की माया है और हमारी मातृ-भाषा भी।

राष्ट्र-भाषा और मातृ-भाषा में भेद—राष्ट्र-भाषा और मातृ-भाषा में भेद है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ मातृ-भाषा हो सकती है, पर यह जरूरी नहीं है कि राष्ट्र-भाषा मातृ-भाषा ही हो। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा बनने का यह अर्थ नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, कि अन्य भाषा-भाषी समाज अपनी मातृ-भाषाओं का त्याग करके हिन्दी को अपनायें। राष्ट्रीयता का अनुरोध तो केवल इतना ही है कि सारे राष्ट्र की एक भाषा हो जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रांतों के समाज परस्पर सम्बन्ध स्थापित करें, विचारों का आदान-प्रदान करें तथा सब सर्वप्रांतीय कार्य इसी के द्वारा करें। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना कांग्रेस ने इसीलिए स्वीकार किया है कि सारे राष्ट्र की एक सामान्य भाषा हुए बिना राष्ट्र कूजने-फूटने नहीं पाया। स्वतन्त्रता का फल नहीं पा सकता, मानव-उन्नति के कार्य में वह भाग नहीं ले सकता जो उसका अपना कर्तव्य है। अतः यदि हम एक राष्ट्र होना चाहते हैं, संसार में अपना गौरव-मण्डित पद प्रदर्श करना चाहते हैं तो हमारा—भारत-सन्तान-मात्र का—कर्तव्य है कि वह हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में अथाशक्ति सहयोग करे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का तो इस सम्बन्ध में अधिकतर महत्वपूर्ण कर्तव्य है। जहाँ उसे यह देखना है कि राष्ट्र-भाषा के नाम हिन्दी की और



हिन्दी संस्कृति की हारना न की जाय वहाँ उसे हिन्दी का  
मर्यादा उनमोचन करने में भरने का ध्यान भी करना है।

सद्भाग प्राप्त में आज हिन्दी का प्रचार प्रिगना हुआ है  
कल्पना करना भी दो दशक पूर्व सम्भव था। इस मर्यादा  
महात्मा गांधी को करने अधिक है। यदि इस कार्य को उन  
व्यक्तित्व का महाराज मित्रा होना तो यह दलना मर्यादा  
होना।

इस लेख को समाप्त करने के पहले मैं एक और महत्व  
की ओर ध्यान दिखाना आवश्यक समझता हूँ। वह  
शब्दों के लोगों को मर्यादा है। मैं जानता हूँ कि इन शब्दों का  
नहीं दिया जा सकता। 'प्रयोगशाला: वेदाङ्गना।' यह हम  
विद्वानों का मत है और मर्यादा है। फिर भी इस ध्यान देने  
रखना हमारे अन्तर्गत होनी है कि हिन्दी भाषा केवल  
वाक्यों की मर्यादा नहीं है। यह राष्ट्र-भाषा है और राष्ट्र के  
इसे वयागात्त मर्यादा करना हमारा कर्तव्य है। इस ओर  
ध्यान दे भी चुका है। विश्वी-सम्मेलन में "हिन्दी भाषा का  
तथा उसके प्रचार की दृष्टि में हिन्दी शब्दों का प्रिग और का  
निर्देश करने के हेतु उचित मार्ग उपस्थित करने के लिए"  
निष्पत्ति की गई थी और मातृ-सम्मेलन में इसमें दो मर्यादा  
और जोर दिए और भी पुनर्मातृ-सम्मेलन की दृष्टि हमारे  
मर्यादा। समिति की ओर से सर्वोच्च की पुनर्मातृ-सम्मेलन दंडन  
अपनी रिपोर्ट अपनी समिति से उपस्थित की थी। इस मर्यादा  
प्रस्ताव इस वर्ष के सम्मेलन में उपस्थित दिया कि—'अपनी  
बदलीव निदान माने जाय'। (क) प्रयोगशाला के  
जिस शब्दों में प्रिग मर्यादा है उस शब्दों का प्रिग कार्य के  
(ग) निजी वरदान तथा छोटे वरदान-विधियों और कीर्तियों  
निजी वरदान-विधियों द्वारा प्रिग-निर्देश दिया जाय और

भाषा के वर्तमान स्वरूप का ध्यान रखकर निश्चित नियम बनाये जायें । ( ग ) कुछकर शब्दों के छिपू अपवाद न रखे जायें; किसी नियम का अपवाद भी कोई नियम ही हो जो सामूहिक रीति से कुछ शब्दों में लागू हो ।' इस पर निश्चय हुआ कि 'सम्मेलन स्थायी समिति की विचारिशों को अस्थायी रूप से स्वीकार करना है और स्थायी समिति को अधिकार देना है कि वह जिन के विषय में सम्मेलन की ओर से अन्तिम निर्णय करे ।' मुझे इस सम्बन्ध में यही निवेदन करना है कि यह प्रयत्न स्तुत्य है । इसकी सफलता पर राष्ट्र-भाषा का प्रचार बहुत-कुछ निर्भर है । साधारणतया, जहाँ जाति से जिन स्पष्ट नहीं होता, शब्दों के अन्वय और उपात्तार्थ स्पष्ट और प्रत्यक्ष से जिन निर्धारित होता है । कुछ अपवाद अवश्य हैं पर यदि वे सामूहिक न हों और किसी में उपनियम न आ सकें हों तो उनका जिन साधारण नियम के अनुसार निर्धारित करना चाहता उन्हें उभय जिंगी मान लेना अनुचित न होगा । ऐसा करने से अन्य भाषा-भाषी लोगों के छिपू हिन्दी सीखना सहज हो जायगा । अवश्य ही इस सम्बन्ध में धीरे-धीरे अग्रसर होना चाहिए क्योंकि जीवित भाषा बढ़ती नहीं है जिसकी धारा निरन्तर एक ही मार्ग से प्रवाहित नहीं होती ।



## व्यापक भाषा की आवश्यकता

( डाक्टर मगधानदास )

ज्ञान के प्रचार के वास्ते बोझी आवश्यक है। सम्य इन्द्रियाँ होने हुए भी, मनुष्य का परस्पर बुद्धि-संक्रमण, अवयवेन्द्रिय और बाह्येन्द्रिय द्वारा ही होता है। तुलसीदास जी ने कहा है, “गिरा अनयन, नयन विनु धानी, स्याम गौर किमि कहीं यदानी।” मीथाना स्म, इनमें पहले कह चुके हैं, “महमे ईं होरा जुख येहोरा नीस्त, मर खर्वा रा मुस्तरी जुख गोरा नीस्त,” ज्ञान के सौदे का खरीदार कान के सिवा दूसरा नहीं। इस होठ, इस ज्ञान का मद्रम, रहस्य-वेदी, इसके म को पहचानने वाला, सिवा ‘बेहोठ’, ‘अनजान’, ‘ज्ञानावोध’ के दूसरा नहीं है। इसी से वेद का नाम श्रुति है, परम्परा से सुनी हुई पुरानी बात। वो उत्तम ज्ञान के देश-भर में व्यापक प्रचार के लिए एक व्यापक बोझी आवश्यक है; तथा शिक्षक, शिष्य, और शिष्या के लिए स्थान आदि भी आवश्यक हैं। इन आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य साहित्य-सम्मेलन का है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो भारतवर्ष की व्यापक भाषा कही जा सकती है। लोकमान्य तिलक ने महाराष्ट्र प्रान्त का शरीर रखते हुए भी, इस बात को स्वीकार किया, और सन् १९२० ई० में काशी में हिन्दी में भाषण दिया था। महात्मा गाँधी ने, गुजरात प्रान्त का शरीर धारण

मते हुए भी, इस बात पर सत्य आग्रह किया है कि हिन्दी का समग्र भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा है और होनी चाहिए, और जिस-जिस भाषा-इसका प्रचार अभी कुछ कम है वहाँ अधिक होनी चाहिए। स्वयं प्रायः सरल हिन्दी ही में अपने प्रभावशाली सामग्र्य इदृशभाषी व्याख्यान देते थे। बंग देश के भी कई विद्वान् और अग्रणी इसको मान चुके हैं। दूसरे देश के भी जो निष्पक्षपात निस्वार्थी विद्वान् हैं वे भी इसको मानते हैं। और गठ सम्मेलनों में वह बात बड़े पापिठपर-पूर्ण सयुक्तिमय व्याख्याओं से सिद्ध की गई है। अब इस पर अधिक बहना निष्पयोग्य है।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी—हाँ, 'हिन्दी' शब्द में कुछ सन्देह हो गया है। इधर 'हिन्दी-उर्दू' का विचार कुछ दिनों तक जो चला, उसके कारण सुसंजमान धर्म वाले, 'हिन्द' में रहने वाले, अतः 'हिन्दी', हमारे भाइयों को इस शब्द से कुछ शंका हो गई। तो कि यह दुर्जय 'हिन्दी-उर्दू' जवानों की नहीं थी, बल्कि नागरी-फारसी शरणों की थी, तो भी इस शक और दुर्जय को मिटाने के लिए हमें कई सुभगिष्ठ पेशवाओं की सलाह यह है कि 'हिन्दी' शब्द ही जगह 'हिन्दुस्तानी' शब्द का इस्तेमाल किया जाय।

यह भी अच्छा है। मेरा निवेदन केवल यह है कि जो ही अर्थ हिन्दुस्तानी का है वही हिन्दी का है, और हिन्दी शब्द छोटा और गूढ़ दिनों से वर्तव में है और सुविधा का है।

इस देश का नाम जैसे 'हिन्दुस्तान' है, वैसे ही 'हिन्द' है। बल्कि अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस, अरब, रूस, मित्र आदि इस्लाम धर्म मानने वाले देशों में 'हिन्द' का मशहूर है, और हिन्दुस्तानी क्रौं, अपनी हिन्द के रहने वाले, हिन्दू, सुसंजमान, ईसाई, सब 'हिन्दी' के ही नाम से पुकारे जाते हैं, 'हिन्दुस्तानी' नहीं।

जो ही, गरिबम और पूर्व के देश, गुजरात, अमेरिका, चीन, जापान आदि में। 'हिन्दु' शब्द प्रसिद्ध है, जो 'हिन्द' शब्द का कोन रूप है। और जैसे पञ्जाब प्रांत का बसने वाला और उसकी बोली पंजाबी, ब्रह्मण की ब्रह्मणी, गुजरात की गुजराती, कन्नड की कन्नडो, बनावल की बनावली, शीमाज की शीमाजी, म्म की म्मी, मिथ की मिथी, कन्नौज या कन्नड देश की कन्नौजी या कन्नौगी, इव आदि हैं हिन्द देश का रहने वाला 'हिन्दी', चाहे वह हिन्दी धर्म का मानने वाला हो और हिन्दी धर्मग्रन्थ जगि का हो, और उसकी बोली को सम्मान्यतः 'हिन्दी' ही, चाहे उसका विशेष भेद अंग्रेजा, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिंधी आदि कुछ को हो। 'सिन्धु' नदी, 'सिन्धु' देश, ये नाम वैदिक और पौराणिक काल में चले आते हैं। सिन्धु देश में बसने वाली जातियाँ 'सैन्धव' कहलाती थीं। प्राचीन 'ईरानी' (आर्य देश में बसी हुई 'आर्य') जातियों की बोली 'जिन्द' ('पुन्द') भाषा में, इन शब्दों का रूप 'हिन्ध' और 'हिन्धव' हो गया। तथा 'यूनानी', ('ऐथोपिया' देश में बसने वाली 'ऐथोपियन'), 'पवन', ग्रीक, जातियों की भाषा में 'इण्डस', 'इण्डिया', 'इण्डियन' आदि हो गया।

हिन्द और हिन्दू शब्दों के विषय में पिछले सम्मेलनों में बहुत शंका-समाधान हुआ है। इन शब्दों का प्रयोग, तिरस्कारक अर्थों में, परदेशियों ने किया है, इसलिए इनका प्रयोग छोड़ देना चाहिए, 'भारत', और 'भारतीय' ही कहना चाहिए, इत्यादि। पर "योगाद् रुद्धिर्धलीयसी", यह सिद्धांत है। अति प्राचीन वैदिक भाषा में 'असुर' शब्द का यह अर्थ था जो अब 'सुर' का है, "असून् राति इति", प्राण देने बसाने वाले, और सुर का यह अर्थ था जो अब 'असुर' का, पर ऐसा बदल गया कि अब उसमें शंका का स्थान ही नहीं है। ऐसे ही, यह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि हिन्दी में जो 'लीला' और 'कदुवा' ये दो शब्द हैं, इनके मूल संस्कृत के दो शब्द लिख और 'कदु' हैं। पर अब बिलकुल उल्टा है, "निम्बं लिखत", नीम कहती है, और "अरिचं

कटु", मिर्च सीली है। जो "योगाद् रुद्धिर्वलीयसी", अब जो 'हिन्द' हमारा प्यारा देश है, और 'हिन्दी' हमारी प्यारी बोली है, जिसको हिन्द के पैलीस-चाळीस करोड़ 'हिन्दिशों' में से पचीस-तीस करोड़ किसी-न-किसी प्रकार से समझ लेते हैं, और साधारण कामों के लिए बोल भी लेते हैं। पर, साथ ही इसके, 'भारत' और 'भारतीय' को भुला नहीं देना है। इन शब्दों का भी प्रयोग समय-समय पर होते रहना ही चाहिए।

इस सम्बन्ध में कभी की विशेष अवस्था की कुछ चर्चा नहीं करना चाहता हूँ। कई मानी में सारे हिन्द का संघेप रूप कारी है। लाहौरी टोला में पंजाबियों की घरती, बंगाली टोला में बङ्गालियों की, केदार घाट, हनुमान घाट पर तामिल-तेलुगों की, दुर्गाघाट एंवगंगा पर महाराष्ट्रों की, बीछम्भा में गुजरातियों की, घाट-घाट पर विशेष-विशेष राज-रियासतों के आदमियों की, मदनपुरा अखाईपुरा में मुसलमान भाइयों की, और सिक्कीम में ईसाई भाइयों को आवादी है। इनकी

७ १९४१ ई० की मनुष्य गणना से, भारत की जन-संख्या, ३८ कोटि हो गई; और प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। किन्तु पाकिस्तान बनने के बाद अब भी इतनी ही जनसंख्या समझें वदनुसार, विविध भाषा-भाषियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। यदि बर्मा देश की भी आवादी जोड़ी जाय तो प्रायः डेढ़ कोटि संख्या और बढ़ जाय। २३३,००० वर्ग मील का यह देश, १८५२ ई० तक स्वतंत्र राष्ट्र रहा; उस वपे, अंग्रेजों ने, इसके दक्षिणार्ध पर कब्जा कर लिया, और १८८५ में राजा को कैद करके उत्तरार्ध पर भी। पहले, बर्मा को भी भारत का एक प्रान्त, अंग्रेजी गवर्मेण्ट ने बनाया; पर १९३५ से, 'राज-नीतियों' के कारण, इसके शासन प्रबन्ध को भारतीय प्रबन्ध से अलग कर दिया है।

रिश्तेदारियों चारों ओर हिन्द-भार में हैं और इनकी बहु-बेटियों तक, बनारसी हिन्दी अर्थ हैं, चाहे अपने-अपने प्राप्त प्राप्त की होती सब तीर्थों और विद्यापीठों में सबसे पुराने करती हैं। उपनिषदों में काशी के आचार्य रामा दिवोदास ने वैश्वक का जीर्णोद्धार किया, के नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष के जो पुराने के नाम से प्रसिद्ध थे, उनमें अन्य सब शिष्य भी दो तीन सहस्र विचारियों को पुरानी रीत और शास्त्र-ज्ञान दे रही है। "श्रुते ज्ञानान्" का वाच्य है। "कारणा मरणात् मुक्तिः" मधुरा माया कारो कांची अर्थतिका, पुरी मोक्षदायिकाः" यह भी। इन वाच्यों का सही, कि वे सब स्वयं पुरानी 'वृन्निवसिटी', थे, ज्ञानी महात्मा अपने साधुजन वहाँ रहते थे बुद्धि वालों के हृदय में भी ज्ञान उत्पन्न हो ज्ञान के द्वारा उनकी मोक्ष मिलता था।

न ह्यम्भयानि तीर्थानि, न देवाः मृच्छि-  
ते पुनर्तिउरुकालेन दर्शनादुपय-  
तन्नात् आयासन्तु तीर्थानि, सधंभूतहित-  
निधयो ज्ञानतपसां, तीर्थीकुर्यन्ति सा-  
परिगुहान् (न) गुनीनां च तीर्थानां पुण्य-  
पर वह सब जगत् सब कथा शेष रह गई है।  
संतुष्ट विद्या के प्रचार का प्रचार अब बाकी रह  
संतोषम भी आवश्यकता है। अब तो इसमें न  
-कोश में कुछ अब दिखाई देना है।

है, प्रचलित बोली हिन्दी में, उच्चम साहित्य का संग्रह और प्रचार हो, ॥ पूरी भाषा है कि सर्वांगीण ज्ञान ठीक-ठीक हो जाय, और शिक्षा, रक्षा, जीविका आदि सब कार्यों में सफलता, स्वतंत्र और स्वाधीन रूप से हो। जिनकी एक बोली, उनका एक मन। यदि देश के सब निवासियों का एक मन हो जाय, तो कौन-सी दृष्ट वस्तु है जो इनको न मिल सके।

एक लिपि और विविध भाषाओं के शब्द—इसलिए इस बोली का जितना अधिक प्रचार हो उतना ही अच्छा है मुझे इसका बहुत खेद है कि दिवंगत ( कलकत्ता हाई-कोर्ट के भूतपूर्व जज ) श्री शारदाचरण मिश्र ने, जो 'एकलिपिविस्तारपरिपत्र' स्थापित की थी, और उसकी जो त्रैमासिक पत्रिका निकाली थी, वह दोनों शान्त हो गईं, और इस और पुनर्धार प्रयत्न नहीं किया गया ॥

यह प्रायः निर्विवाद है कि जैसे नागरी अक्षरावली, वैसे नागरी लिपि भी, अन्य सब वर्णमालाओं और लिपियों की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय 'साधर्मिक', सम्पूर्ण, अभ्यान्व, और सब बोलियों के जिसमें से समर्थ है। यदि पाँच-साठ भाषाओं भरची और अंग्रेजी की देखी हैं जिनके लिए संस्कृत अक्षरावली और लिपि में प्रबंध नहीं है, तो वे सहज में, स्वतंत्र और व्यग्रमग्न में, स्थान और प्रयत्न ॥ अनुसार, बना की जा सकती हैं, और अब बची जाने भी लगती हैं। जैसे स्वर-चर्च में भरची अ, अंग्रेजी (क्या बंगला) हैं और ओ। कर्ण में क और ग, चर्च में ज, चर्च में ज, जिन के पुराने नाम जिह्वाश्लीष और उपध्माशीष हैं। ह्वादि।

॥ श्री प्रेमचन्द और श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने 'हंस' नामक मासिक पत्र में इस प्रकार का कार्य फिर आरंभ किया था; पर खेद है कि श्री प्रेमचन्द जी के देहावसान से यह काम, थोड़े ही समय बाद, बन्द हो गया।



मुझे लगता अनुभव यह है कि जब तक एकत्रिभिन्नारण्य  
 की प्रक्रिया निरवरोध थी, मैं उन्ने निवम मे पढ़ा करना या और नागरी  
 अक्षरों में पढ़े हुए उनके बंगला, मराठी, गुजराती लेख भी प्रायः सब  
 समझ जाता था। हाँ तेजगू, नामिन्न लेख तो नहीं समझ पड़ते थे।  
 पर उसमें भी कहीं-कहीं पुराने संस्कृत शब्द पढ़वाने पड़ जाते थे।  
 उर्दू का तो कहना ही क्या है। यह तो सिद्ध हो चुका है कि हिन्दी  
 उर्दू में इतना भी भेद नहीं है जितना हिन्दी-बंगला या हिन्दी-गुज-  
 राती या हिन्दी-मराठी में है। किन्नापद उर्दू में प्रायः सब ही हिन्दी  
 के अर्थात् संस्कृत मात्र के हैं। जाना, जाना, जाना, जाना, देना,  
 सुनना, सोना, जानना, जानना, धूमना, समझना, चलना, छिना,  
 इत्यादि। भाषाओं की बनाउट हिन्दी की ऐसी ही होती है। विमर्श-  
 वाचक शब्द सब हिन्दी के हैं। संज्ञा-पद, संज्ञा-विशेषण, और क्रिया-  
 विशेषण, फ़ारसी-अरबी के उपादा प्रयोग करने से बोली उर्दू और  
 संस्कृत के अधिक होने से हिन्दी, बंदी जाती है। यह तो कुछ भी  
 फ़रक नहीं है। संज्ञा-पद तो हमको सभी भाषाओं से, जो-जो ज़रूरी  
 हों, लेना उचित हो है। बहुत-से अंग्रेज़ी के शब्द अब भी भाषा में ले  
 लिये गए हैं। अरबी-फ़ारसी के शब्द अगर कसरत से हिन्दी में लिखे  
 जायें, तो एक क्रावदा यह होगा कि अरब, फ़ारस, मिस्र देश का  
 सम्बन्ध इस अक्षर में बना रहेगा, जिससे 'एशियाटिक यूनिटी', और  
 उसके बाद 'वर्ल्ड यूनिटी' में, सहजता मिलेगी। पर लिपि एक,  
 नागरी, यदि सब भाषाओं में बरती जाने लगे, तो अक्षरीय भाषाओं का  
 भेद रहते हुए भी एक दूसरे का अभिप्राय समझने में बहुत बड़ी  
 सुविधा हो जाय। कश्मीर का हाल तो मैं जानता हूँ कि, वहाँ के सब  
 मुसलमान भाइयों की कोठियों में भी वही साते एक प्रकार की नागरी  
 अर्थात् महाजनी लिपि में ही लिखे जाते हैं। मद्रास म या के ग्रन्थ  
 और पत्र सब नागरी लिपि में छपते हैं। और मेरी समझ में तो ऐसा  
 था कि बंगला और गुजराती तथा उर्दू के अच्छे-अच्छे ग्रन्थ यदि

नागरी लिपि में छपें तो व्यापार-रोजगार की दृष्टि से भी छापने वालों ही की बहुत लाभ होना, क्योंकि हिन्दी के ही' जानकार भी इनको, बिना अनुवाद के धम के, मूल शब्दों में ही पढ़कर, अधिकतर का अर्थ ग्रहण कर सकने के कारण, खरीदने और इनका प्रचार, जो अब सचछांट की सीमा के भीतर संकुचित है, वह समय भारत में फैल जायगा। शास्त्र और ज्ञान की कविताओं के छोटे संग्रह, जो नागरी में छपे हैं, उनकी अच्छी बिक्री है। परम प्रसिद्ध कवि अकबर हसनाबादी के भी पद्य नागरी अक्षरों में छपे हैं, और हजारों प्रतिष्ठा हाथों-हाथ बिकी है। इस सम्बन्ध में एक बात और विचारने योग्य है। हिन्दी में जो संस्कृत, फारसी, अरबी, अंग्रेजी आदि के शब्द लिखे जाय वे अपने मूल रूप में बरते जाय, या हिन्दी की बोली के अनुसार इनकी शब्द कुछ बदली जाय ? कुछ लोगों का विचार है कि, एक देश को छोड़कर आरमी दूसरे देश में जा बसता है, और अपना पुराना पहरावा छोड़कर उस देश के पहरावे को धारण कर लेता है, यही उस देश के आदिमियों में मिल पाता है, नहीं तो विदेशी बना रहता है, इसलिए देने शब्दों का रूप भी बदल लेना अच्छा होगा। दूसर कहते हैं कि अगर शब्द बदलनी शुरू हुई तो रोज-रोज बदलती ही जायगी, वही स्थिरता न आयगी; और शब्दों की उत्पत्ति का स्थान भी भूल जायगा, और शब्द अर्थ भी बदल जायगा। कहावत है कि—

दस बिगहा पर पानी बढ़ले, दस कोसन पर धाना

और संस्कृत प्राकृत का भेद मुख्यतः इसी कारण से है; संस्कृत के रूप के, विविध ग्रन्थों में, विविध प्रकार से बदलने के कारण, प्राकृत बहुत-सी उत्पन्न हुई; और कुछ भी हो गई; संस्कृत एक ही बनी है। साथ ही इसके, प्राकृत और संस्कृत का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी है, ऐसा ही, जैसा सोम्य में प्रकृति और चिकृति का।

अप्यक्त प्रकृति में जो अनन्त संस्कार लीन हैं, उनका उद्बोधन

और अधिगर्भित होकर, विह्वल हो गयी है, और चरम विनम्रता और घोर विनम्रता है। फिर, विह्वलता मरणा की घोर लुब्धक, क्रमशः प्रकृति की चरमलक्षणता में प्रतीत हो गयी है। यदि किसी एक विह्वलता की संस्कृति, संस्कृति, संस्कृति, संस्कृति और संस्कृति हो जाए, तो वह 'संस्कृति' विह्वलता के विरुद्ध विचार हो गयी है। इनको चरमता में 'संस्कृति' कहने है।

संस्कृति में चरमता होकर संस्कृति की प्रकृति में वृद्ध हो गई है। प्रकृति का गुणगर्भित होकर संस्कृति के विरुद्ध प्रकृति की प्रकृति में वृद्ध हो गई है।

मनसुख यह कि ऐसे विचारों का कहना है कि दूसरी प्रकृति में ऐसे गुण प्रकृति का चरम लुब्धक हो जाए तो भाषा स्थिर रहेगी। नहीं तो चरम-चरमता का विचार ही बचकर के अनुसार सब ही अनुसार उसमें रहने-बढ़ने करने लगेंगे। कोई भीमता तोनता प्रकृति बाहेगा, कोई नेत्रहीन, शानदार, सुखा, भाव और मरकट।

दूसरी का कहना है कि एक संस्कृति में कई तरह की बड़ी बातें मालूम पड़ती हैं। सभी तक, दोनों एक के समर्थक, पुनर्निर्माण ही रहे हैं। सर्व-साधारण की मूल्यमात्रा ने कोई निर्णय नहीं कर पाया है। पर ग्रन्थ-साहित्य अधिक बढ़ने पर इसका भी निर्णय हो ही जायगा। जैसा चरमता में हो गया है। जैसा मुनता है कि बंगाल, गुजराती, मराठी में कुप-न-कुप हो गया है। इन तीन भाषाओं को यह सुविधा है, कि इनको फ्रांसीसी प्रकृति शब्दों से काम कम है। प्रायः संस्कृत ही का आधार है। हिन्दी को फ्रांसीसी प्रकृति से भी काम है और संस्कृत से भी। तुलसीदास जी ने, हिन्दीने बाणगीति रामायण को हिन्दी में अनुवाद जैसा किया जैसा प्यास जी ने वेदों का महाभारत के रूप में, 'रक्षा' का आधार 'रक्षा' कर दिया है। 'प्रायः' का तो 'आधार' सहज ही है। फ्रांसीसी-दा 'रक्षा' पर ही जोर देते हैं। संस्कृत के कान को 'प्रायः' ही प्रिय है। सर्व-साधारण को प्रायः रक्षा और

भासना ही भला लगेगा। मेरा निज का विचार कुछ ऐसा होता है कि लिखे और छपे ग्रंथों के लिए, यदि शब्दों के शुद्ध आकार पर ज़ोर दिया जाए, तो सहाय्य की स्थिरता बढ़ेगी। बोलने में चाहे थोड़ी धिक्काई भी रहे। ज़ाहिरा, 'सदी बोली' का प्रयोग बढ़ता भी जाता है। यही शकल हिन्दी और उर्दू के मेल की, अर्थात् हिन्दुस्तानी की, होती दीख पड़ती है। मासूली बोल-बाज में तो, जैसे भारमी आदमी की शकल-सूरत में और आवाज़ में 'क्रूर' होता है, वैसे ही शब्दों में कुछ-न-कुछ होता है और रहेगा। एक घर में बच्चे कुछ और बोलते हैं, रिश्तों कुछ और, पुरुष कुछ और, गौहर कुछ और। एक दूसरे की बात डीक-डीक समझ जायं, इतना तो जरूरी है, और जैसे ही वैसे साधना चाहिए; इसके बाद यदि थोड़ा भेद रहे, तो वह भी संसार की विविधता के आधारक रस में सहायता ही देता है। जब शास्त्रीय विषयों (इस्मी मज़हबीन) पर लेख लिखना हो, तब संस्कृतज्ज ग्रन्थकार अथवा ही संस्कृत से संज्ञा-पद, विशेषण आदि लेता, और अरबी-फ़ारसी-वां उन जगहों से इस्म व लिफ़्त के शब्दों को। यह फज़, भेद, मिट नहीं सकता, न मिटाने की जरूरत है। जैसे तामिल, तेलगू, गुजराती, मराठी के ग्रन्थ अलग छपते ही हैं, वैसे ही हिन्दी और उर्दू के भी अलग क्यों न बनें और छपें? हाँ, अगर दोनों तरह के लिखने वाले इतना ध्यान रखें और यह उपयोग काम में लायें, कि ठेठ संस्कृत शब्द के साथ, 'मैकेट', कोष्ठक में उसका अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़ के साथ मैकेट में संस्कृत पर्याय रस दिया करें, तो पाँच-पाँच ज़ुबानें सी शब्द, दोनों तरफ़ के, दोनों तरफ़ वालों को अभ्यस्त हो जायं।



: ११ :

## राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि

( सेठ गोविन्ददास )

देश के स्वतन्त्र होने तक स्वतन्त्रता हमारा प्रथम लक्ष्य था । इस कार्य के सामने अन्य सारे कार्य गौण थे । देश के स्वतन्त्र होते ही स्वतन्त्र देश के विधान बनाने का प्रश्न हमारे सामने आया । विधान परिषद् के निर्वाचन के परवाने विधान किस भाषा में बने तथा वह देश की किस लिपि में लिखा जाए, देश की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि कौन-सी हो, ये प्रश्न किसी-न-किसी रूप में विधान-परिषद् के सामने आते रहे हैं । यद्यपि इनका अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हुआ है, पर मैं यह मानता हूँ कि बड़े-बड़े विरोधों के रहते हुए भी हिन्दी हमारे देश की राष्ट्र-भाषा और देवनागरी ही राष्ट्र-लिपि घोषित होगी । एक बात और हो सकती है कि भागरी में लिखी जाने वाली 'मातली' हमारे देश की राष्ट्र-भाषा निश्चित की जाए । यदि यह होता है तो मैं इसका भी स्वागत करता हूँ, क्योंकि भारत हमारे देश का प्राचीन नाम है । हिन्द और हिन्दुस्तान नाम तो उन्ने पीछे से मिला । हिन्द नाम के कारण भाषा का नाम भी हिन्दी हो गया । देश का नाम भारत और भारत देश की भाषा का नाम भारतीय, यह हमारी परम्परा और संस्कृति के अधिक अनुकूल है । हाँ तो मैं जानसे कहना चाहता हूँ कि राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि का जब तक कोई निर्णय न हुआ हो, पर हिन्दी

या भारती ही हमारी राष्ट्र-भाषा और मातृ ही राष्ट्र-लिपि होगी । यदि और कुछ हुआ तो यह स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक होगा और कोई अस्वाभाविक बात स्थायी नहीं हो सकती ।

अंग्रेजी इस देश की राष्ट्र-भाषा हो नहीं सकती । लगभग दो सौ वर्षों के अंग्रेजी राज्य के जाने के उपरान्त इस देश के कितने प्रतिशत लोग अंग्रेजी जानते हैं ? हिन्दुस्तानी कोई भाषा है ही नहीं । उसका न कोई व्याकरण है, न साहित्य । जिस भाषा का अस्तित्व ही नहीं वह राष्ट्र-भाषा कैसे बनाई जा सकती है ? अंग्रेजी की 'कनसाइज़र फ़ॉर फ़ॉरमिग' में हिन्दुस्तानी को मुख्य बिजेवाओं की भाषा कहा है । 'हिन्दुस्तानी' कही जाने वाली भाषा में बाज़ारों में बोले जाने वाले शब्दों के अविरल वैज्ञानिक और शास्त्रीय शब्दों का न निर्माण हुआ है और न हो सकता है । साधारण पढ़ाई-लिखाई भी या तो अंग्रेजी भाषा में हो सकती है या हिन्दी में या कर्तू में, हिन्दुस्तानी में नहीं ।

कगदा हिन्दुस्तानी नाम का नहीं है, कगदा है हिन्दुस्तानी नाम में जो अर्थ निहित हो गया है उसका । हिन्दुस्तानी का अर्थ वह भाषा है जिसमें इतने प्रतिशत शब्द संस्कृत, इतने फारसी, इतने अरबी के हों, फिर वह नागरी और अरबी लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा है । कुछ महानुभावों का मत है कि भाषा का नाम हिन्दुस्तानी रखा जाय, पर वह एक ही लिपि नागरी में लिखी जाय, किन्तु भाषा केवल लिखने की न होकर बोलने की भी वस्तु है । "यदि नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी राष्ट्र-भाषा घोषित हो तो भी उसमें कितने प्रतिशत शब्द किस भाषा के रहेंगे, वह प्रश्न उठेगा और रेडियो आदि में जहाँ भाषा लिखी न जाकर केवल बोली जाती है, सदा एक कगदा मचा रहेगा, जैसा आज मचा है ।

जो लोग हिन्दुस्तानी का विरोध करते हैं, वे किसी साम्प्रदायिक भावना से ऐसा करते हैं, यह मैं नहीं मानता, वरन् मैं तो यह कहता हूँ कि हिन्दुस्तानी का समर्थन करने वाले उसका समर्थन साम्प्रदायिकता

की भाषा में करने हैं। जो देश में एक संस्कृति जाड़ने है वे मजा दो लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा का समर्थन कैसे करेंगे ?

हिन्दी का राष्ट्र-भाषा होना इसलिए स्वाभाविक नहीं है कि वह अन्य प्रांतीय भाषाओं में भेद है। हम अन्य प्रांतीय भाषाओं की भीषी और हिन्दी को उमसे ऊँची नहीं मानते। हिन्दी का राष्ट्र-भाषा होना इसलिए स्वाभाविक है कि कुमायूँ से मेरठ बरतार तक और जैसलमेर से बिहार के पूर्वीय छोर के अन्तिम ग्राम तक हिन्दी ही लोगों की भाषा है। उमसे हम देश की तीस करोड़ में से सठारह करोड़ जनता कोलती और बाह्य करोड़ समझती है। संयुक्त-प्रान्त, बिहार, मराठीराज, राजस्थान, मध्यभारत, विन्ध्य प्रदेश, पूर्वी पंजाब, हिमाचल-प्रदेश की भाषा हिन्दी है। दक्षिण भारत में भी हमका प्रचार अत्यन्त शीघ्रता से हो रहा है।

राष्ट्र-भाषा और प्रांतीय भाषाएँ—राष्ट्र-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी हो जाने का कोई यह अर्थ न समझे कि हम विन्ध्य-भिन्न प्रांतों की प्रांतीय भाषाओं का गला घोटना चाहते हैं। विदेशी राज्य में विदेशी भाषा की हमारे देश पर जार, उसी को हमारी शिक्षा का माध्यम, हमारी धारा-सभाओं और न्यायालयों की भाषा बना हम पर जो घोर अत्याचार किया था, ऐसी कोई धान करने की कल्पना तक हम नहीं कर सकते। जिन प्रांतों की भाषा हिन्दी नहीं है, जैसे बंगाल आसाम, उड़ीसा, महाराष्ट्र, गुजरात, तामिल, चान्द्र, कर्नाटक, मलयालयम आदि उन प्रांतों में हम शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा को नहीं बनाना चाहते, न वहाँ की धारा-सभाओं और न्यायालयों में हम हिन्दी को चलाना चाहते हैं। अहिन्दी प्रांतों की शिक्षा का माध्यम, वहाँ की धारा-सभाओं और न्यायालयों की भाषा प्रांतीय भाषा ही रहे। हाँ, केन्द्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय सारे कार्य राष्ट्र-भाषा हिन्दी में ही होने चाहिए और केन्द्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय सारे कार्य सुचारु रूप से चल सकें इसके लिए समूचे भारत में राष्ट्र-भाषा की शिक्षा

भी छनिवायें होनी चाहिए। हम इस बात के लिए भी प्रस्तुत हैं कि दक्षिण भारत तथा अन्य अहिन्दी प्रांतों के अपने भाइयों की सुविचार्य केन्द्र में भी हिन्दी के साथ-साथ कुछ समय के लिए अंग्रेजी का अस्तित्व रख लिया जाय। देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए राष्ट्रमतर। और प्रांतीय भाषायों दोनों का समान महत्त्व है, और दोनों की समान उन्नति आवश्यक है।

राष्ट्र-भाषा और अंग्रेजी—अंग्रेजी भाषा से भी हमारी कोई शत्रुता नहीं। देश के बाहर की बातों के ज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए हमें अंग्रेजी का सहारा लेना ही होगा। इन कार्यों के लिए अंग्रेजी के अतिरिक्त हम और किसी भाषा का साधन नहीं ले सकते।

राष्ट्र-भाषा और उर्दू—उर्दू और हिन्दी का कैसा सम्बन्ध रहेगा इस पर भी कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। उर्दू भाषा से भी हमारा कोई द्वेष नहीं। हम उर्दू भाषा और उसके साहित्य का सम्मान करते हैं। वह इस देश में जन्मी और वहीं पनपी है। हम तो उसे हिन्दी की ही एक शाखा मानते हैं। परन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि वहाँ जन्म लेने और पनपने वाली उर्दू भाषा या साहित्य मुसलमानों को एक शुद्ध समुदाय बनाये रखने में सहायता देता रहा है। उर्दू के साहित्य में हिमालय का वर्णन न होकर कोहकाफ़ का वर्णन होता है। वह साहित्य कीयत के स्थान पर सुलतुत को ही महत्त्व देता है। उसके धीरे भीम, अर्जुन न होकर हस्तम आदि हैं। वह दधीचि और शिवि की छोड़ हाजिम की उदारता का वर्णन करता है। हमारे मुसलमान भाइयों के मन में पार्ष्ण्य की भावना है, भारतीय संस्कृति से अलग अपनी संस्कृति को रखने के विचार हैं, उसमें सदा उर्दू और उसके साहित्य ने सहायता पहुँचाई है। पार्ष्ण्य की इस भावना ने ही दिराष्ट सिद्धांत की जन्म दिया, जिसके कारण देश का विभाजन हो गया। भारत में रहने वाले मुसलमान भाई यदि अपने की अन्य भारतीयों से अलग मानेंगे तो इस देश पर अविष्य में अनेक ऐसी आपत्तियाँ



भा गहनी है जिसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हिन्दू धर्म ही गोरे भारतीयों का धर्म नहीं है। दो धर्मों को मानने वाले भी एक कुटुम्ब में रहते हैं। पंजाब में एक ही कुटुम्ब में हिन्दू-सिख रहते हैं। राजस्थान में भी प्रायः एक ही कुटुम्ब में वैष्णव और जैन रहते हैं। क्या ऐसी स्थिति नहीं भा गहनी जब एक ही कुटुम्ब में एक स्थानि हिन्दू और दूसरा सुमज्जमान रहे ? हमारे पड़ोसी देश चीन और रूस में जब यह बात है तब भारत में क्यों नहीं हो सकती ? चीन और रूस में बौद्ध, ईसाई तथा सुमज्जमानों के धर्म शृङ्ख-शृङ्ख होने पर भी उनको संस्कृति शृङ्ख-शृङ्ख नहीं है। उनके नामों तक से हम बात का पता नहीं लगता कि चीन किस धर्म को मानता है। हम चाहते हैं कि पार्थक्य की इस भावना को त्याग कर सुमज्जमान भारतीय संस्कृति को अपना कर इस देश के सम्पन्न निवासियों में पुनः-मिल जाय। वे भी हिन्दी भाषा को अपना लें। महाराष्ट्र, पंजाब, आन्ध्र, उड़ीसा, गुजरात, तामिल, आंध्र, कर्नाटक, मलया में रहने वाले सुमज्जमान इन प्रांतों की भाषाओं को ही बोलते और लिखते हैं। कुछ दिन पहले जब साम्प्रदायिकता का ऐसा दौर-दौरा नहीं था तब इन प्रांतों के सुमज्जमानों में उर्दू का प्रचार न था, और हमारे हिन्दी-भाषी मध्य-प्रांत के सुमज्जमान हिन्दी में ही सारे कार्य करते थे, अधिकांश उर्दू जानते तक न थे। प्राचीन समय में अनेक सुमज्जमानों ने हिन्दी भाषा को अपना कर उसमें उत्तम-उत्तम रचनाएँ की हैं। कबीर, जायसी, रहीम, रसखान, आदि-आदि का नाम हिन्दी के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

गत कुछ वर्षों से साम्प्रदायिकता के कारण उर्दू भाषा का एक विशेष प्रकार से प्रसार किया जा रहा है। जैसा मैंने अभी कहा हम उर्दू के विरोधी नहीं हैं, पर जिस पार्थक्य की भावना से उर्दू का यह प्रसार हो रहा है, उसका कम-से-कम मैं घोर विरोधी हूँ।

राष्ट्र-भाषा का भावी स्वरूप—भाषा के नाम और लिपि के प्रश्न के साथ ही हमारी राष्ट्र-भाषा कैसी हो, यह प्रश्न भी हमारे सामने

है। हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिये जो सरल-से-सरल हो; जिसे सहज में सब लोग समझ सकें। परन्तु जहाँ एक ओर भाषा की सरलता की ओर हमारा ध्यान रहना चाहिये, वहाँ दूसरी ओर हमें इस बात पर भी ध्यान रखना होगा कि हमारी भाषा में उपयुक्त शब्दों का प्रयोग हो, जो सूक्ष्म अर्थ का भी यथावश्यक बोध करा सकें। वैज्ञानिक और शास्त्रीय ग्रन्थों अथवा खेलों की भाषा बहुत सरल नहीं हो सकती। कन्नित साहित्य में भी कहानी, उपन्यास एवं नाटक की भाषा 'जितनी सरल हो सकती है उतनी कविता की नहीं। यदि वैज्ञानिक और शास्त्रीय भाषा को हम सरल बनाने का प्रयत्न करेंगे तो भाषा में यथावश्यक बोध की शक्ति नहीं आ सकेगी। और यदि कविता में भी अत्यधिक सरलता लाई जायगी तो उसका भाषा-सौन्दर्य नष्ट हो जायगा। हमारी भाषा में जो शब्द बाहरी भाषाओं के आणव हैं उनका पहिष्कार हमें नहीं करना है, बल्कि हमें तो अन्य भाषाओं के प्रति शब्द भी ग्रहण करने के लिए तैयार रहना चाहिये। आज जो अंग्रेजी भाषा इतनी उन्नत है उसका प्रधान कारण यही है कि उसने अपने शब्द-कोष को अन्य भाषाओं के शब्दों से समृद्ध किया है। नारमन लोगों की जीत के समय अंग्रेजी भाषा की क्या स्थिति थी और धीरे-धीरे उसकी भी-गुंथि कैसे हुई, इसे हम देखें। आज ही मैं आपरलैण्ड में गेलिक भाषा का किस प्रकार उत्थान हुआ इसका अवलोकन करें। परन्तु इसी के साथ अपनी भाषा के उद्गम और गठन को देखते हुए हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि हम नये शब्दों के निर्माण में प्रधानतया संस्कृत से ही सहायता ले सकते हैं। फिर तामिल के सरल एक दो प्रान्तीय भाषाओं को छोड़ देय हमारी सभी प्रान्तीय भाषाओं की जननी संस्कृत ही है। संस्कृत से शब्द लेने पर हम अन्य प्रान्तीय भाषाओं के भी अधिक समीप रह सकेंगे।

संस्कृत की शब्द-सरिता भारतवर्ष की सभी साहित्यिक भाषाओं का पोषण करती है। उसकी उपमाओं, उल्लेखों, अभिव्यञ्जनाओं

राष्ट्र-भाषा

घौर गृन्थिने ने भाग की प्रायेः  
भाग की प्राकृतिक दृष्टा की प्रतीक  
में इतने प्राचुर्य ने प्रगुप्त हुए हैं कि  
से भेद करना कठिन हो जाता है। उदा-  
हरण-सन्नाह की शोभप्रमाण दाढ़ा व  
"गुरुदत्त प्रार्थना" शीर्षक कविता की वि-  
अपार सुषम, उदार गगन, श्याम  
वसन्त अति सुगन्ध मूर्ति,  
विविध-रस्य मानवनीरद भदतारा  
विविध शोभा शस्य क्षेत्र प्रमा-  
सुनील गगनं घनतर नील अति दूर  
तारि परपारे रविर उदय कनक-  
चक्र-तद्वित मयन परया पूर्ण  
शरत आकाशो असीम विकास उद्योत  
इसे कौन कह सकता है कि यह हिन्दी की कवि-  
एकों पर बंगला के 'प्रत्ययों' घौर विभिन्न विद्यो-  
उत्तर ही नहीं, दक्षिण भारत भी इसे अपनी क-  
कता है।

राष्ट्र लिपि-हमारी देवनागरी इस देश की ही नहीं  
विश्व में सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। हमारी लि-  
मों का कौसा वैज्ञानिक प्रयोजन है वैसे अन्य लिपि-  
ह, उच्चारण हर स्थान पर 'अ' ही होगा और 'इ' का  
ही लिखा जायगा तो वह 'क' ही पढ़ा जायगा और  
में जिस प्रकार 'बी यू टी' बट का 'यू' 'अ' पढ़ा  
?' पुट का 'यू' 'उ' वैसे हमारे लिपि-  
लिखे जाने वाले

हैं वैसे हमारे यहाँ नहीं। उद् में अक्षरों को मिलाकर लिखने और जुड़ों के कारण उसके पढ़ने में जो अवधानें आती हैं वे हमारी लिपि में नहीं। हर विषय की शिक्षा हमारी लिपि के द्वारा जितनी सुगमता से दी जा सकती है उतनी अन्य किसी लिपि के द्वारा नहीं। फिर हमारी लिपि संस्कृत लिपि होने के कारण अन्य प्राचीन भाषाओं की लिपि के जितने सम्बन्ध हैं, उतनी अन्य कोई लिपि नहीं। मराठी में तो इसी लिपि का उपयोग होता है, गुजराती लिपि और हिन्दी लिपि में भी अधिक अन्तर नहीं और बंगाली लिपि के भी अधिकांश अक्षर, भागरी लिपि से मिलते-जुलते हैं। इतना ही नहीं, बर्मा, सिंहल, मलाया, रयाम, हिन्देशिया और हिन्द चीन आदि की वर्णमालाएँ भी प्रायः हमारी वर्णमाला के ही समान हैं। फिर भी आधुनिक संवत्सर में उसमें थोड़े-बहुत सुधारों की आवश्यकता है। विशेषज्ञों की राय से हमें इन सुधारों की आवश्यकता स्वीकार कर लेना चाहिए। इस दिशा में हम संकुचित धृति न रखें। हमारी भाषा और साहित्य में निर्माण का कार्य हमें तेजी से आवश्यक जानना है, और जीवित भाषा में भाषा के लिए स्वच्छन्दता की भी आवश्यकता है। स्वच्छन्दता में अल्पन अक्षरते हैं तथापि कुछ-न-कुछ निर्वचन भी आवश्यक होते हैं। इस क्षेत्र में हमें बहुत सूक्ष्म अनुसंधान की ओर तो न जाना चाहिए, किन्तु भाषा के रूप के सम्बन्ध में विद्वानों को एकत्रित हो कुछ-न-कुछ निश्चय कर लेना आवश्यक है।



## राष्ट्र-भाषा का स्वरूप

( श्री चियोगी हरि )

मैं हिन्दी को, उसके प्रचलित रूप में, राष्ट्र-भाषा और जातीय चिह्न को राष्ट्र-चिह्न मानता हूँ। मेरी इस मान्यता में शुद्ध और पूर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहा है। जहाँ तक हिन्दी के बोलने का सम्बन्ध है, विभिन्न हिन्दी-भाषी प्रदेशों में भी उसके अनेक रूप प्रचलित हैं। किसी भी यह कई शैलियों में जाती है। एक शैली उसकी उच्च भी है, जिसका चक्षुष्य चिरिष्ट जनों में पाया जाता है स्पष्ट है कि हमने इस विशिष्ट शैली को बहिष्कृत नहीं किया; ऐसा करने की हमारी कभी मन्शा भी नहीं। किन्तु सम्मेलन ने हिन्दी को उसी साधारण शैली को राष्ट्र-भाषा माना है, जिसमें कबीर, रैदास, जायसी, तुलसी, मूर, मीरा, गुरु ज्ञानदास, रहीम, रामदास, हरिचन्द्र, मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत आदि कवियों और संगों ने, तथा राजा सितप्रसाद, बाजकृष्ण मल, प्रतापशारदास मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द आदि लेखकों ने राष्ट्र के विचारों और भावों को, भिन्न-भिन्न कालों और अलग-अलग परिस्थितियों में, स्वाभाविक रीति से व्यक्त किया है। वे सब मलियाँ एक ही कर्मकांड मूल में विरोध हुई हैं। भारतीय राष्ट्र की व्यापक भावनाओं को व्यक्त करने की समता रखने वाली संस्कृत और प्राकृत-मूलक भाषाएँ ही सदा से रही हैं। और हिन्दी ने तो हम दृष्टा में

सबसे अधिक काम किया है। राष्ट्रीय चेतना को जगाने और फैलाने में वह सबसे अधिक समर्थ भाषा सिद्ध हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हमारे देश में भाषा कभी बाँद-बिबाद का विषय नहीं बनी थी। उस पर कभी राज-सत्ता का अंकुश नहीं रहा। मुस्लिम शासन-काल में भी राज-भाषा फारसी उसके फकने-फूटने में दखल नहीं दे सकी। राज-भाषा जोर-हुदय और जोर-मल्लिक पर धीरे ही शासन कर सकती है ? यह अलग बात है कि हमारे कविओं और लेखकों ने फारसी और तुर्की के अनेक शब्दों को सद्भाव से, सहज रीति से, ग्रहण कर लिया। हमारी भाषा में वे घुल-मिल गए, रच-वच गए। इसमें कोई साम्प्रदायिक या राजनीतिक दृष्टि नहीं थी। यह अंगीकार तो 'अपरन-साधित' हुआ। इस बीज के भीतर, अनजन्माये, प्रेम की भावना काम करती थी। वे यह सोच-सोच कर नहीं लिखते या कहते थे कि अमुक शब्द को इसलिए लेना ठीक नहीं कि उसे अमुक जन-समुदाय नहीं समझ सकेगा। यह भी समझे और वह भी समझे, दलित शब्दों के बँवरारे में हम काफी उदार भी समझे जायँ—इस नीयत से हम लिखेंगे और बोलेंगे, तो वह भाषा स्वभाव-सरल न होकर बना-बनी ही होगी। भले ही हमारी मन्दा भाषा को सरल या आमकूदम बनाने की हो, पर अपने इस अस्वाभाविक प्रयत्न में हम सफल नहीं हो सकेंगे। दो विभिन्न भाषाओं के समानार्थक शब्दों को एक साथ रखने से भी भाषा के आमकूदम बनाने का प्रयत्न इतक नहीं होगा। साम्प्रदायिक ऐक्य-साधन की धुन में भाषा को जान-मानकर बिगाड़ना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं। बे-मेल शब्दों को कान उमेठ-उमेठकर जबरदस्ती ऐसी जगह बिठाना, जो उनके लिए मीठ न हो, एक व्यर्थ का प्रयास है। क्या कभी इस तरह सरल, सुषोष और सामान्य भाषा बनी है ? इस फेर में पकड़ भाषा को—हिन्दी को भी और उर्दू को भी—अस्वाभाविक और असुन्दर क्यों बनाया जा रहा

है ? मात्र भाषा तो हमारा से ही सुन्दर होती है । जिस भाषा में, जिस शैली में गौरवर्धन नहीं, खोब नहीं, चमकदार नहीं, वह खोब-दार को कैसे धारण कर सकती है ?

कबीर ने भाषा को बढ़ना नीर कहा है । प्रवाद मद्भक्त चर्चार्थ 'अपान-गाधिन' होता है । हमें हम बात को भी तो ध्यान में रखना चाहिए कि हम किस प्रकार की भाषा या शैली इतना बड़ा और बढ़ना और विस्तार चाहते हैं । भाषा और शैली दोनों विषय-विशेष का अनुसरण करनी है । विषय की कठोर व्यवस्था व्यवस्था या कथा के अपार्य ज्ञान पर निर्भर करती है । कबीर ने और उनकी कोटि के वास्तविकी संतों ने मरक-मे-मरक भाषा में 'अप्यात्म' के ऊँचे और गहरे विद्वानों का सङ्कलन एवं निरूपण किया है । पर उनकी अनुसरण कौन करे ? वे तो भाषा के अधिनायक थे, भागों के सम्राट् थे । उनकी निरट सारक-मद्भक्त भाषा उस महारस की अनूठी गार है, जिसे उन्होंने जीवन की सद्भक्त साधना से भरा था । पूज्य गांधीजी को भी हिन्दी ऐसी ही स्वभाव-सारक होती थी । वे भाषा के नियमों का भंग जान-बूझकर नहीं करते थे । अगर उनके 'हरिजन-सेवक' की वर्तमान हिन्दी—नहीं, नहीं, हिन्दुस्तानी को जरा ध्यान दें । उसमें हिन्दी का के-मेख गढ़-बंधन किस मौलिक के साथ किया जा रहा है ! हिन्दुस्तानी के नाम पर हिन्दी और उर्दू का यह भद्दा परिहास अच्छा नहीं ।

यदि समन्वय के विचार से राष्ट्र-भाषा को बिल्कुल नये ढाँचे में ढाँका जा रहा हो, तो मुझे इतना ही कहना है कि समन्वयीकरण में भाषा की मूल प्रकृति का हमें पूरा ध्यान रखना होगा । यह व्याख्या कोई खास मानी नहीं रखती कि हमें ऐसी ज़बान में लिखना चाहिए, जिसमें न संस्कृत ■ कठिन शब्दों की अधिकता हो और न फारसी के मुश्किल सज्ज इस्तेमाल किये जायें, और जिसे सर्व-साधारण समझ लें । विषय को देखते हुए हम जान-मानकर कठिन शब्द नहीं रखेंगे, पर सम्भव नहीं कि हमारी भाषा में क्यास्यान संस्कृत के वल्लभ

उपमा उद्भव शब्द प्रचुरता से उपयोग में न लाने जायें । विदेशी भाषाओं के जो शब्द हमारे नित्य के व्यवहार में आते हैं और सुव्य-  
मिश्र गए हैं वे हिन्दी में हमेशा ऊँचर का स्थान पार्षने, भावस्थकता-  
नुसार निर्वाच-रूप से हम नये शब्दों को भी सजाते रहेंगे । इतना ही  
नहीं, राष्ट्र-भाषा को अधिक सशुद्ध बनाने के विचार से भिन्न-भिन्न  
जनपदों और प्रांतों के बहु-अर्थवर्धित समर्थ और सुन्दर शब्दों का भी  
हम उसमें समावेश करेंगे । समन्वय का मैं भी विरोधी नहीं, प्रेमी हूँ ।  
किन्तु समन्वय वैसा, जैसा राम में भिन्न-भिन्न स्वरों का । प्रत्येक राग  
का, उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार, बँधा हुआ सरगम होता है ।  
इस स्वर को यहाँ उपमा स्थान मिलाई, तो उस या उन स्वरों को  
यहाँ उतना ही मिलाना चाहिए, जितना वह स्वर मध्यम लगाया गया  
है, तो वह भी मध्यम ही लगाना चाहिए—यदि इस व्याप-नीति को  
छेहर आप सरगम की पुनरेवना करने देंगे तो उससे कौन-सा राग  
बनेगा ? इस नीति से मझा कभी सामंजस्य सिद्ध हुआ है ? यही बात  
भाषा के सम्बन्ध में भी है । जिस प्रयत्न द्वारा हमारी भाषा की प्रकृति  
का जग-भंग होता हो, उसे असुन्दर और विरूप बनाया जाता हो, उस  
प्रयत्न का चाहे जो नाम दिया जाय, पर उसे समन्वय या सामंजस्य  
का प्रथम नहीं कहा जा सकता । जिसकी तिर काटकर उसकी जगह  
बकर का तिर चिपका देने से दूध प्रजापति को जो राख बनी थी उसे  
देखकर तो भगवान् दूध भी शिखजिखकर हँस पड़े थे । उस विचित्र  
प्रकृति को नर और अज्ञा का समन्वय कहने के लिए क्या आप तैयार  
हैं ? इस प्रकार के असामंजसपूर्ण इतने प्रयत्नों से न कभी समन्वय  
हुआ है और न होगा ।

अपना तो यह होना कि हिन्दी और उर्दू को अपने-अपने रास्ते  
बढ़ने और फैलने दिया जाय । बिना किसी बाहरी जगन के, पहलू की  
तरफ, आपस में अपने-आप दोनों जनजातों के आदान-प्रदान क्यों न करती  
रहें । राष्ट्र के विचारों और भावों की रक्षा करने की जिसमें विषयो



अधिक सामर्थ्य होगी यह उतने ही बड़े जन-समूह को स्वयं अपनी ओर खींच लेगी। उद्यान में अगर सभी फूलों को अपने-अपने रस में मग्न रह दें। एक पेड़ का फूल तोड़कर दूसरे पेड़ की टाखी पर न छोड़ते फिर भ्रमर किन फूलों पर जाकर बैठते हैं और किन पर नहीं, इस व्यर्थ की चिन्ता में न पड़ें—यह पसंदगी तो आप कृपा करके रस-माड़ी भ्रमरों पर ही छोड़ दें। प्रकृत रसिकों के आगे गिने-बुने फूलों के गुच्छों से सजा-सजाकर न रहें।

वचन तो शायद इसका अर्थ हुआ कि हमें भाषा के क्षेत्र में किसी भी प्रकार का सुधार, प्रयत्न और प्रचार नहीं करना चाहिए। नहीं, मेरा यह आशय कदापि नहीं। प्रयत्न और प्रचार हम अवश्य करें, पर वह शुद्ध रचनात्मक हो, अहंमिमी हो और भाषा-विज्ञान के नियमों से असम्बद्ध न हो। यदि हमारे प्रचार का आधार समर्थ साहित्य का निर्माण होगा, तो फिर विवाद या संका के क्षेत्र स्थान ही नहीं। रचनात्मक अर्थात् मेम-मूलक प्रयत्न और प्रचार से हम विभिन्न भाषाओं में सही और स्वाभाविक समन्वय सिद्ध कर सकेंगे। और वही, मजिद मुहम्मद जायसी की इस साखी का अर्थ भी हृदयंगम हो सकेगा—

तुरकी, अरबी, हिन्दुई, भाषा जेवी आदि ।

जेहि मैह मारग प्रेम का सबै सराई वादि ॥

मगर 'प्रेम के मार्ग' का, सत्तों और सृष्टियों के ऊँचे निर्माण-काट का यहाँ वर्णन करेंगे नहीं हम अन्तर के सामने-सामने बोझों वाली सहज भाषा का सहारा लेंगे। राष्ट्रीय गम्भीर विषयों के पक्ष में हम दूसरी ही भाषा और शैली का प्रयोग करेंगे। इसी दर्शन और विज्ञान की भाषा भी भिन्न होगी। अपने विषय भाषाओं को पथार्थ, परिष्कृत और सुन्दर रंग से प्रकट करने की र कहीं हम संस्कृत के उत्तम शब्दों का उपयोग करेंगे, कहीं व शब्दों को काम में खर्चने और कहीं देशज और अन्य भाषा

श्री की स्थापना देंगे। ऐसा होगा हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी का स्वरूप, और यह रूप निर्धारित भी हो चुका है।

राजनीतिक और साम्प्रदायिक प्रश्न हमारी भाषा पर दबाव नहीं डाल सकेंगे। उस पर राज-शासन नहीं चल सकेगा; उल्टे, उसके प्रभु राष्ट्र को अमाने और उल्टा देने की शक्ति होगी। यह शक्ति तीव्र-रूप से हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी के अन्दर विद्यमान है। राष्ट्र की भावनाओं को जगाने और एक छोर से दूसरे छोर तक फैलाने में हिन्दी सबसे अधिक हाथ रहा है। फिर हिन्दी को किसी खास सम्प्रदाय की भाषा कहने का कौन साहस करेगा? हिन्दी का उद्गम से न पैर है, न उससे कोई भय। यह तो कतली ही भयनी एक विशिष्ट शैली है। कल की हिन्दुस्तानी से भी उसे कोई लड़का नहीं, न हिन्दुस्तानी नाम से ही उसे चिढ़ है। यदि हिन्दुस्तानी नाम से भाषा के उसी स्वरूप को ग्रहण किया जाता हो जिसे कि हम आज राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, तो हिन्दी का 'हिन्दुस्तानी' नामकरण करने में हमें सन्देह नहीं होना, बल्कि क्या नामकरण-विज्ञानकुल व्यर्थ है। प्रश्न तो असल में भाषा के स्वरूप का है।

एक सशक्त प्रचार—भारत के उन सभी प्रांतों में, जहाँ हिन्दी पूर्ण रूप से बोली नहीं जाती, कुछ दिनों से यह आमक मत फैलाया जा रहा है कि हमारी जाने बसती हिन्दुस्तान में वह ज्ञान सूर्य बोली और बरती जाती है जो न हिन्दी है न उर्दू, फिर भी जो हिन्दी और उर्दू की मिश्रित से 'बनी है'—उसे वहाँ हिन्दुस्तानी कहते हैं और वही वहाँ की आमक हम भाषा है। एक विमेदार सज्जन ने तो वहाँ तक कह दिया कि हमारे लिए तो संस्कृत-विह हिन्दी और अरबी-फारसी के अक्षरों से लदी उर्दू से दोनों भजननी हैं। एक वक्त्र में यह भी कहा कि राष्ट्र-भाषा मान रहा है उसमें वत वहाँ विश्व रही है। अथवा कि

दरती ज़ौमियत ज़ायम करने के लिए भारत राष्ट्र का सम्बन्ध देने की नीयारी हो रही है। हमके लिए कुछ ऐसे विद्वानों स्वाँ भी श्री गई है, जिन्होंने ज्ञान या अज्ञान में ऐतिहासिक सांस्कृतिक तथ्यों की तौष-तौष की है और कुछ नये आविष्कार किये हैं। भाषा-विज्ञान के विद्वानों के मतों की उपेक्षा की हिन्दी भाषा तथा साहित्य के इतिहास के पन्ने उलटने की नहीं समझी गई। पूर्ण उद्देश्य ज़बरदस्त ज़ौमियत का रहा है, इसलिये हममें स्वभावतः प्रायः ऐसे प्रतिपक्ष प्रयोग प्राप्त किया गया है, जो राजनीतिक सम्झौतों और बल पर साम्राज्याधिकारीकरण की सम्भावना में विरथाव इली हेतु की साधने के लिए नये-नये तरीकों द्वारा तरह-तरह किया जा रहा है। कहूँगा कि हमारे प्रचार करने पर भी प्रचार साथ पर पर्दा नहीं डाल सकता कि “भारतवर्ष का वास्तव्यार्थी हिस्सा प्रकृति से ही संस्कृत शब्दों की समृद्धि इसलिये उसकी रीति में संस्कृत-मूलक हिन्दी ‘अज्ञान’ सकती। हिन्दी की शरीर-रचना में संस्कृत के ठासम और ठास का रहना स्वाभाविक है; उन्हें वह खोज नहीं सकती। उस संस्कृत-निष्ठता पर आज आवेप किया जाता है वही उस स्वापकता का मूल कारण है। सम्मेलन के पूर्ण-अधिवेशन में सिद्ध चित्तमणि केलकर ने यह निश्चय सही कहा था कि ‘और हिन्दी के बीच जो नाता पहले से है वह वो संस्कृत का-ही है’ हिन्दी को ‘संस्कृत-निष्ठ’ कहना ही गलत है। हिन्दी ही है।

हिन्दी की विशिष्ट शैली उर्दू की जो सीखना सीखें। हमारी उनके साथ कोई बहस नहीं। उर्दू के कितने भी अच्छे सुशुद्धादा पूरा बुने जा सकते हैं। उर्दू कोल मना करण है ? यदि बने वो फारसी-साहित्य का

कर सकते हैं। हमारा किसी भी भाषा और उसके साहित्य से विरोध नहीं। किन्तु संस्कृत-मूलक या संस्कृत-युक्त भाषा-भाषियों पर उर्दू को और हिन्दुस्तानी के नाम से परिचित कई छोटी-बड़ी जवानों को, जो उर्दू का ही एक भद्र रूप है, खारिज नहीं जा सकता। मेरी प्रार्थना है कि हमारे सम्मान्य मित्र कृपाकर अहिन्दी-भाषी प्रांतों में स्वयं घूम न केवल, बुद्धि-भेद पैदा न करें। यह मुझे विश्वास है कि देश में शुद्ध राष्ट्रीयता के प्रभुत्व होते ही इस और ऐसे ही हमारे अर्थों का निवारण अपने-आप हो-आवगा। सूर्य-मण्डल की कोहरे का घोंघरा भासित कर तक बिपाये रखा सकता है ?

हिन्दी और हिन्दुस्तानी के इस अग्रिम बाद-विवाद पर, पक्ष और विपक्ष में, हजर बहुत-कुछ कहा और लिखा गया है। मेरे विद्वान् मित्र भद्रान्त आनन्द कौशल्यापन ने समय-समय पर राष्ट्र-भाषा हिन्दी के पक्ष का खाला ठक-संगत और शिष्टाचार्य समर्थन किया है। अन्य विद्वान् लेखकों ने भी अपने-अपने ढंग से हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी पर कई ओज-गूर्य लेख लिखे हैं। किन्तु घरेलू विवाद में कभी-कभी कुछ कटुता-सी देखने में आती है। यह हमारे लिए खोना की बात नहीं है। आपस के ऐसे विचारों में शीघ्र-मर्बादा का हमें पूरा ध्यान रखना है। गाँधी जी ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी की अनुपम सेवा की है। सम्मेलन उनकी सदा आशी रहेगा। आत्र दुर्भाग्य से भाषा के धर्म पर हमारा उनके साथ मत-भेद हो गया है। मत-भेद प्रकट करते समय हमारी ठक-सौड़ी और भावा में आविर्भाव नहीं आनी चाहिए। हमें यह न भूलना चाहिए कि गाँधी जी के त्याग-पक्ष का अर्थ सम्मेलन का परि-त्याग नहीं है। उन्हीं के शब्दों में, उनके सम्मेलन से निकलने का अर्थ 'सम्मेलन को अपना हिन्दी की अधिक सेवा करना था।' सम्मेलन के बिना एक अन्यत्र भी कोई-पाशाब मुझी - १० - १० से मैं सहमत कि "सम्मेलन और गाँधी" का पारस्परिक

उदात्तता से अनुसरण करें । राष्ट्र-भाषा विषयक प्रश्न के सम्बन्ध में—दृढ़ यत्न, उत्साह और त्याग की आवश्यकता है ।

विधान-परिषद् के सदस्यों से—राष्ट्र-भाषा हिन्दी विधान-परिषद् से इस अंतिम अधिवेशन में प्राप्त भाव सामने विचारार्थ उपस्थित है । यह कुछ अद्भुत और दुःस्वीकार्य कि हमारा राष्ट्र अपनी प्रकृति-सिद्ध भाषा का निर्णय राष्ट्र-विधान बनाने वाले पंडितों के द्वारा कराने जा रहा है । राष्ट्र-हिन्दी के पक्ष में तथा विपक्ष में काफी से अधिक लिखा और कहा गया है । स्वयं आपसों को छोड़कर यदि हम केवल भाषा-विज्ञान के दृष्टि से विचार करें, तो हिन्दी का पक्ष निर्विवाद और विजयशाली है । यह प्रश्न न तो राजनीतिक है, न साम्प्रदायिक । भारतीय के कारण निरसम्भेद निरन्तर हिन्दी का सम्बन्ध स्थापित रहा है ।

भारत के सर्वाधिक प्रांतों तथा जनपदों की भाषाएँ और लिपियाँ संस्कृत और प्राकृत-गुप्तक हैं, अतः सम्प्रदायीय हिन्दी में भाषा उन्नति निकट का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है, कुल्लूक राज्यों को छोड़कर अधिकांश उत्तम और मध्यम राष्ट्र ही में ही प्रयुक्त होते हैं, उनका प्रयोग अब प्राचीन भाषाओं से हो रहा है । सांस्कृतिक परम्परा और उन्नति को इसी कारण हिन्दी में अधिक प्रयुक्त रहा है, और इसमें संदेह नहीं कि निम्नलिखित और सम्प्रदायों के बीच हमारी सांस्कृतिक भाषा हिन्दी ही सच्ची ऐन्य स्थापित हो सकती है ।

प्रश्न भाषा-विज्ञान का है—यह बार-बार कहा और लिखा जा चुका है कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न मुख्यतः भाषा-विज्ञान से सम्बन्धित है, न कि राजनीति से । राजनीतिक उद्देश्य भाषा-विज्ञान का ही विषय नहीं बनना समझना चाहिए कि भाषा-विज्ञान

आओ जानना चाहिए कि हिंदी को हमारे राष्ट्र का बहुत बड़ा अनमोल व्यावहारिक तथा साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार कर चुका है, उस पर अब केवल राजकीय मोहर लगानी है। स्पष्ट है कि राष्ट्र का निर्माण लोकमत के इस आधार के बिना हो नहीं सकता।

लोक-भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को हमारे सामने मात्र दृष्टपूर्वक रखा जा रहा है। यह नाम हमारे लिए कुछ नया नहीं है। कतिपय कुरीतिगत धर्मोक्त रामकों ने बहुत पहले हिन्दुस्तानी के नाम में उर्दू को बदलाने का विफल प्रयत्न किया था। हिन्दुस्तानी के इस दावे को कि यह लोक-भाषा है या बन सकती है, भाषा-शास्त्र के एक भी पंडित ने कभी स्वीकार नहीं किया। हिन्दुस्तानी को न तो कोई स्थिर स्थावरा है, न उसका कोई साक्ष्य है। ग्वादा-से-ग्वादा जिस प्रकार उर्दू को हम हिन्दी को ही एक विशिष्ट सैली मानते हैं, उसी प्रकार हिन्दुस्तानी को भी हिन्दी की एक सरल सैली मान सकते हैं। पर सैली कभी भाषा के सम्पूर्ण रूप का स्थान नहीं ले सकती, मगर मात्र जिस रूप में हिन्दुस्तानी हमारे सामने आई है, उसे तो हम सरल सैली भी नहीं कह सकते। वह तो हिन्दी का, और उर्दू का भी, बड़ा रूप है जिसमें धर्मोक्ती के भी कुछ आवश्यक शब्द जहाँ-तहाँ रख दिये जाते हैं। धर्मचर्च और दुःख होता है, जब हमारे कुछ समझदार मेरा और साहित्यकार भी बिना समझे-बूझे इस घटपटी और निरुद्ध बनावटी हिन्दुस्तानी का बार-बार समर्थन किये आ रहे हैं।

परन्तु साम्प्रदायिक नहीं—आस्तान जन-भाषा या आनन्दम जनान की बार-बार गूँट लगाई जा रही है। हिन्दुस्तानी के ये हिमायती स्वतः निरुद्ध सत्तों की क्यों इस तरह उषेका कर रहे हैं ? संसार में आपकी जिस भाषा का ऐसा उदाहरण मिलेगा, जिसमें जिसे प्रत्येक विषय को वहाँ का प्रत्येक जन समझ सके ? बाजार में सौदा-मुलक खेने-देने वालों की भाषा राजनीतिक विधानों अथवा विविध विज्ञानों की भाषा नहीं हुआ करती। सबान आसब में बोख-बाख की भाषा का

मही है ; प्रश्न तो उस साहित्यिक भाषा का है, जिसमें हम राष्ट्र की समस्त आवश्यकताओं और अभ्यासों को सफलतापूर्वक पूरा कर सकें। विविध तर्कों और सुप्टीलरस की सोसली मीच पर सही हिन्दुस्तानी के बूते का यह काम नहीं। आश्चर्य है कि सांप्रदायिकता का समूच भाग करने के लिए सांप्रदायिकता का ही बार-बार आश्रय दिया जाता है ! राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में सोचते समय हिन्दू या मुसलमान का ईसाई का चित्र हमारे सामने आये ही क्यों ? भाषा तो, जैसे राष्ट्र, वैसे सभी की है।

संस्कृत-निष्ठता का कारण—अनेक प्रचारक भाषाओं के समान ही 'ग्रामफहम', 'सरल भाषा', 'जन-भाषा' आदि भी हवा में गुँवने वाले निरे नारे ही हैं। आज यह भी कहने का एक पैमाना-सा चरम पड़ा है कि हिन्दी दिन-प्रति-दिन संस्कृत-निष्ठ और भिन्न-भिन्न हो रही है, और दूसरे प्रांतों के लोग उसे सरलता से नहीं समझ पाते। लेकिन ऐसी शिक्षाप्रत तो दूसरे प्रांत वालों के मुँह से अब तक 'हरिजन-सेवक' और 'नया हिन्दू' की बनावटी हिन्दुस्तानी के बारे में ही सुनी गई है। विविध विषयों की व्यापकता के कारण हिन्दी यदि दिन-प्रति-दिन विकसित होगी जरूरी है, तो उसकी समृद्धि पर संस्कृत-निष्ठता और दुर्बलता का नाम लेकर, समझ में नहीं आता, क्यों आसक्ति बढ़ाई जाती है ?

दो-दो तीन-तीन जिनियों बनाये रखने की दलील तो और भी ख़तर है। सामयिक दायता को हम हम प्रकार वाली से जिराये रहेंगे तो संसार हम पर हँसेगा। विविध जिनियों के हम जड़-मोड़ से हम राष्ट्र को ऐक्य की ओर नहीं, उल्टे अनेक्य की ओर खे जाँचेंगे और उगड़े और भी टूटते-टूटते कर देंगे। भाषा ही अपनी वैज्ञानिक रति भी तो बैठेगी। समझ में नहीं आता कि जो प्रश्न कुछ राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक है उस पर बुद्धि-मंगल विचार करने समय हम क्यों संकोच और कृत्रिमता का अनुभव करने दें ?

जब्रा और दुःख की बात तो असल में हमारे लिए यह है कि अपनी राष्ट्र-भाषा का प्रचल आज हम विधान-सभा में ले जा रहे हैं। कदाचित् सभा के कुछ सदस्य हिन्दी के विषय में भी हृत्प उठाव और शायद कुछ तटस्थ भी रहें। अनेक के हृदय में अंगरेजी के प्रति भी पहले की जैसी ही अद्भुत-भक्ति बनी हुई है। ऐसा न होना तो घान हमारा मूख विधान क्यों एक विदेशी भाषा में तैयार किया जाता, और उसके दो-दो तीन-तीन अनुवाद विधान-सभा में रखकर क्यों हम जज्बा के पात्र बनते। अंग्रेज़ तो गये, पर उनकी मोहिनी माया को छोड़ने की भी नहीं कर रहा, यह कितने दुःख की बात है।

“बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय”

अहिन्दी-भाषी प्राणियों में एक यह भी भ्रम फैलाया गया है कि हिन्दी वहाँ की स्थानीय भाषा को दबा देगी, उन्हें पनपने तक न देगी। इसके पीछे कितना बड़ा दुष्ट हेतु है। आश्चर्य है कि इस विधिग्र दलील का प्रयोग अंग्रेज़ों की आक्रमण-नीति पर कभी नहीं किया गया, जिसने सचमुच स्थानीय भाषाओं के बंदने में कड़ी-कड़ी बाधाएं डाली और लोक-मानस को बुरी तरह विरुद्ध कर दिया। फिर भी अंगरेज़ी के प्रति इतना अधिक अन्धमोह और अपने ही देश के बहुसंख्यकों की भाषा को ओर से इतना सम्प्रेह और भय ! स्थानीय भाषाओं का स्थान तो सबसे पहला है। उनके स्वाभाविक पद की कौन ज़ोन सकता है ? राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता तो केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार और वैभव-साधन के लिए है। प्रत्येक दृष्टि से यह स्थान हिन्दी को ही मिल सकता है और वह उसको मिल भी चुका है। “बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय”—हिन्दी की यह प्रतिज्ञा है।





नहीं है। वस्तु तो वही सांख्यिक भाषा का है, जिसमें हम गण की सामान्य आवश्यकताओं की चर्चा को आवश्यकतापूर्वक दूर कर देंगे। विविध नयी चीजें न्यूनीकरण का मोलवी मोल पर नहीं दिखाना के कूने का यह काम नहीं। आश्चर्य है कि सांख्यिकता का मूल भाग करने के बिना सांख्यिकता का ही बार-बार आग्रह किया जाता है ! गण-धारा के सम्बन्ध में भाषा समझ दिख या सुन्दरता ही गण का निज हमारे सामने आने ही क्यों ? भाषा तो, जैसे गण जैसे नहीं हो सकती है।

जो वे चाहते थे । जहाँ-तहाँ कुछ शब्दों की जगह 'हिन्दी' शब्द लिख दिये गए और यह पुस्तक देवनागरी अक्षरों में भी छप गई ।

एक और उदाहरण—दक्षिण-भारत हिन्दी-व्याकरण सभा ने 'हिन्दुस्तानी' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की है, उसमें मौलाना अबुल-कलाम आजाद का उर्दू में लिखा हुआ एक 'दीवाचा' है, जो देवनागरी अक्षरों में भी ज्यों-का-त्यों 'दीवाचा' ही है ? 'दीवाचा' शब्द फारसी का है, उसे फारसी में जगह है और हिन्दुस्तानी की उर्दू में भी; लेकिन हिन्दुस्तानी ही जिनकी ज-म-भूमि है ऐसे वे दो शब्द—'प्रस्तावना' और 'भूमिका'—चाप कृपया करें कि यह क्यों शरणा डूँगे ? हिन्दुस्तानी में तो अब उनको शरण मिलेगी नहीं, क्योंकि वे 'हिन्दुस्तानी' नहीं हैं !

और क्या यह 'न संस्कृत, न अरबी-फारसी' भाषा लिखने का प्रयत्न सफल होता है ? यदि आपको सारे साहित्य में "मैं जाता हूँ मैं जाता हूँ" जैसे दो-दो शब्दों के वाक्यों से ही काम लेना हो तो बात दूसरी है, अन्यथा आप जरा भी गहराई में उतरें तो आपको अपनी 'न संस्कृत, न अरबी-फारसी' वाली बात गुरन्त धोकर देनी होगी । मैं इस 'हिन्दुस्तानी' किताब से ही, जो एकदम बच्चों के लिए लिखी गई है, दो उदाहरण देता हूँ । एक जगह कुटनोट है—“मुत्तम्क मुधम्मल की वजह से इफ्फाल में जो कर्क पैदा होता है, उस्ताद उसे समझाए और मरक कराए ।” हिन्दुस्तानी आदर्शवादियों ने उसे देवनागरी अक्षरों में कैसे लिखा है—‘पुन्लिङ्ग और स्त्रीलिंग की वजह से क्रियाओं में जो कर्क पैदा होता है, उस्ताद उसे समझाए और मरक कराए ।’ दोनों लिपियों में लिखी जाने योग्य भाषा बनाने के फेर में देवनागरी में भी फारसी न लिखकर बजह लिखा गया है; अन्वयायक न लिखकर उस्ताद लिखा गया है, अन्वयास न लिखकर मरक लिखा गया है; मान्य वे शब्द पहले सब शब्दों की अपेक्षा सरल हों; ‘आमकदम’ हों; लेकिन उध भी क्या दोनों लिपियों में भाषा लिखी जा सके ? देवनागरी में

‘श्रियाधो’ है, वट्ट’ में ‘इधमाळ’ है (चेन्न का बहु वचन चेन्नो हो जाता लेकिन तब तो वह हिन्दी-व्याकरण के अनुसार होता), देव-नागरी में पुनिष्ठ है तो वट्ट’ में मुक्कम्प है। देवनागरी में स्वन्ति है तो वट्ट’ में मुक्कम्प है।

दूसरा उदाहरण लें—श्रृ १४ पर—“मुक्कम्प-हाथि-मरक हाथों की मरक चेन्न-हाथ के मुक्कम्प मुक्कम्प की मरकों में क्या हो जाय।” दोनों विनियों में एक ही भाषा लिखने के हस्तों की दे-नागरी में इसे यों लिखना पड़ता —“उत्तम और मध्यम पुनरुक्ति मरक वर्तमान काळ के पुनिष्ठ और स्त्रीलिङ्ग के रूपों में क्या हो जाय।” दोनों वाक्यों में एक ‘मरक’ शब्द को दोहरा कर दो-नागरी विशेष शब्द समान है? यदि हम ‘सम्प्राप्त’ की जगह हम ‘मरक’ शब्द को ही अपनी भाषा में जगह दें और हिन्दुस्थानी की मरक “सम्प्राप्त” को देना-निवाला भी दें, तब भी क्या हमसे वह हिन्दी “हिन्दुस्थानी” हो जाती है?

निम्नलिखित दिनों दक्षिण-भारत हिन्दी-व्याकरण-समा के १२ वें-१३ वें पदवी-दान के अवसर पर जगन्मय मन्दार लक्ष्मण बोसकी मादर ने एक सफ़ीर जामा पहना। उसमें लिखने दक्षिण भारत हिन्दी-व्याकरण समा के एक सफ़ीर दी है कि वह अपना नाम हिन्दी-व्याकरण-समा के रूप में हमें “हिन्दुस्थानी-व्याकरण-समा” में बदलाने का है। बात जामा है—“हिन्दी नाम के पदवी-दान के अवसर पर लिखने के दिने में अपनी अपनी पर जोर देना, नाम का है हमलिखने कि मुझे पता चलता है कि हम सदासे ही मुमकमानों के मन पर बड़ा अपना जमा देंगे।” कुछ लोग बड़ा करते हैं कि नाम में क्या रखा है; लेकिन बोसकी मादर नाम के सदासे ही ही मुमकमानों के मन पर बड़ा अपना जमा देना करने की इच्छा करते हैं। लिखने अपनी सफ़ीर में लिखना है कि बोसकी जामा की समके जो तीन नाम लिखे हैं—हिन्दी, हिन्दुस्थानी—के तीनों मुमकमानों के दिने हुए हैं। यदि वह

बात ठीक है तो 'हिन्दुस्तानी' नाम में यह कौन-बो. सासियत है जिसकी वजह से मुसलमान भाई 'हिन्दी' और 'उर्दू' दोनों नामों पर उसे तरजीह देंगे ? यात्र भाष मुसलमानों पर 'अय्या असर पड़ेगा' की बात कहकर राष्ट्र-भाषा को 'हिन्दुस्तानी' ही कहने की सलाह दे रहे हैं. कम भाष उसे उर्दू ॥ कहने की सलाह भी दे सकते हैं । १९४२ में गाँधी जी ने जब "हिन्दुस्तानी सभा" की नींव डाली तब उसके ३५ बुनियादी मेम्बरों में कितने मुसलमान भाई मेम्बर बने थे ? स्वयं मोहम्मदी साहब तो सैर उसमें थे ही नहीं, कलम खाने के लिए तीन नाम दिखाई देते हैं, लेकिन ऐसे, जिनमें से कोई भी भाषा-सम्बन्धी शीर्षों के लिए प्रसिद्ध नहीं—न आजाद हैं, न आकिनहुसैन हैं, न मौजाना अम्मुल हक हैं ।

बमा कीमिद यह 'हिन्दुस्तानी' चांदोजन हमारे मान्य राजनीतिक नेताओं की सूझ है और किसी राजनीतिक आवश्यकता का ही परिणाम भी । लेकिन शर्तों पर कायित एकता—बनावटी एकता—स्थापी नहीं होती ।

अंग्रेजी और उर्दू के बाद इधर दो-तीन वर्ष से एक नई विचार-धारा ने अपना सिर उठाया है । उसका नाम है हिन्दुस्तानी विचार-धारा । जिस प्रकार किसी कोठड़ पर खगा हुआ लेखक बना रहे लेकिन उसके कन्दर को फीज बदल जाय वही हाल हिन्दुस्तानी लेखक का है । हम इस शब्द को हिन्दी के साथ-साथ काम में लाते रहे हैं—जैसे 'हिंदी-हिन्दुस्तानी' और यह हिन्दी का पर्यायवाची भी रहा है, जैसे 'हिंदी-अय्या' हिन्दुस्तानी । लेकिन इधर इस 'अय्या' में प्रामुख परिवर्तन हो गया है । पहले इसका मतलब था कि चाहे हिन्दी कहो चाहे हिन्दुस्तानी कहो, बात एक ही है । लेकिन अब इस 'अय्या' का अर्थ किया जा रहा है कि हिंदी और हिन्दुस्तानी दोनों में से किसी एक का चुनाव करना होगा ! यदि हिंदी का, तो हिन्दुस्तानी का नहीं और हिन्दुस्तानी का, तो हिंदी का नहीं ।

हम हिंदी वाले वर्षों से प्रचार करते आए हैं कि हिंदी राष्ट्र-भाषा है। इसलिष्ट प्रत्येक हिंदी को, प्रत्येक भारतवासी को, इसे सीखना चाहिए। इस नई विचार-धारा ने, जिससे हमें सावधान रहना चाहिए कहना आरम्भ किया है कि हिंदी हिंदुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की। यह ठीक है कि हिंदी हिंदुओं की भी भाषा है किन्तु हिंदुओं की नहीं और इसी प्रकार उर्दू भी मुसलमानों की नहीं। सर तेज बहादुर सप्रू उर्दू के प्रसिद्ध समर्थक हैं। वे मुसलमान नई कारमीर के वाद्व्य हैं। और अबुलमन सरन्की ए उर्दू की मुख्य परिभाषा 'हमारी जवान' के सम्पादक भी श्री प्रजमोहन दत्तात्रेय हैं। उर्दू जिनमें आपका भोज ठीक-ठीक लिखा ही नहीं जा सकता। कोई भाषा किसी धर्म की बरौती नहीं। जो लोग हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा कह-कह कर और उसी प्रकार उर्दू को मुसलमानों की भाषा कह-कहकर हिन्दु-स्वामी के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के सम्पादन की बात करते हैं—मुझे भय है कि इतिहास ऐसे लोगों को, साम्प्रदायिकता का बसाधारण प्रचारक न सिद्ध करे।

हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने पर एक और आपत्ति उठाई जा रही है जिसमें उसके गुण को उसका दोष कहा जा रहा है। कहा जाता है कि ऐसी भाषा ही राष्ट्र-भाषा ही सकती है 'जिसमें न संस्कृत के शब्द हों, न अरबी-फारसी के'। यदि हमारी राष्ट्र-भाषा को सध काम करने है जो आज दिन अंग्रेजी के माध्यम से करते हैं, तो ऐसी भाषा जिसमें 'न संस्कृत के शब्द हों न अरबी-फारसी के' हमारे लिष्ट तीन बीरो की भाषा होगी। हमें यह निर्णय करना ही होगा कि विशेष शब्द आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होने पर कहाँ से लें? स्वाम में बेंक को धनागार कहते हैं और मोट को धन-पत्र। हम भारत में यदि इसी प्रकार कोलें और जिल्में, तो उसमें किसी को क्यों आपत्ति हो सकती है?

एक और मजे की आपत्ति यह है कि लोगों की राष्ट्र-भाषा हिन्दी में और लोगों की राष्ट्र-भाषा हिन्दी में अन्तर होना चाहिए। अर्थात् जो

हिन्दी किसी की मातृ-भाषा है वह राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। स्काटलैंड और ग्रेटेन के लोगों से चैम्पेजी का यही सम्बन्ध कहा जा सकता है जो मराठी भाषा-भाषी यथवा गुजराती भाषा-भाषी लोगों का हिन्दी से। इंग्लिश इंग्लैण्ड के लोगों की मातृ-भाषा होने हुए भी सारे ग्रेटेन की राज्य-भाषा है और सारे ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा। तो क्या एक तरह की चैम्पेजी चैम्पेजों की मातृ-भाषा है और दूसरी तरह की चैम्पेजी ग्रेटेन की राष्ट्र-भाषा और तीसरी तरह की चैम्पेजी ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा ? चैम्पेजी चैम्पेजी है। चाप उसे मातृ-भाषा मानकर सीखें, राष्ट्र-भाषा मानकर सीखें या साम्राज्य-भाषा मानकर सीखें। किन्तु सुझाया यह जाता है कि हिन्दी के दो रूप होने चाहिये—एक मातृ-भाषा वाला रूप, दूसरा राष्ट्र-भाषा वाला रूप। सही बात यह है कि मातृ-भाषा के धर्म में तो हिन्दी भारत के कुछ चार-पाँच जिलों की भाषा होगी; शेष समस्त भारत की तो हिन्दी राष्ट्र-भाषा ही है। और उसका स्वरूप निश्चित है। हमें आज उसका प्रचार करना है; उसमें नए आवश्यक ग्रन्थों का निर्माण करना है।



: १४ :

## हिन्दी : राष्ट्र-भाषा

( डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा )

हमारी करपस्त प्राचीन भाषा का क्या कवेसर—मेरा बात  
सही बोली हिन्दी से है—यथा उसका साहित्य इस समय कुछ  
घातक परिस्थितियों में होकर गुजर रहा है। इन कभीन परिस्थिति  
परिणाम स्वरूप अनेक नई समस्याएँ, नई उलझनें, नये प्रश्न  
भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में हिंदियों तथा अहिंदियों दोनों  
के बीच में फैल रहे हैं। अपनी भाषा और अपने साहित्य के मा  
हित की दृष्टि से इनमें से कुछ प्रधान समस्याओं की ओर मैं घात  
ध्यान आकषिप्त करना चाहूँगा। बात जरा बचकायी-सी मालूम होती  
है, किन्तु मेरी समझ में हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में बहुत  
सी वर्तमान समस्याओं का प्रधान कारण हिन्दी की परिमाणा, मात्रा  
-- यथा स्थानिक सम्बन्ध में अत्यन्त घटती-बढ़ती का भेद है। अतः सबसे  
पहले इनके विषय में यदि हम और आप सुधरे ढंग से सोच सकें  
तो उत्तम होगा।

आप कहेंगे कि हिंदी की परिमाणा के सम्बन्ध में मतभेद ही क्या  
हो सकता है, किन्तु वास्तव में मतभेद नहीं तो समय का देर कहीं पर  
अपरव है। हिन्दी-लेखकों का एक वर्ग हिन्दी भाषा शब्द का प्रयोग  
जिस अर्थ में करता है दूसरा वर्ग उसका प्रयोग

करता है। देश में हिंदी भाषा के रूप के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं इस दृष्टिकोण से मैं हिन्दी भाषा की एक परिभाषा आपके सामने रख रहा हूँ। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि इस परिभाषा के प्रत्येक अंश पर ध्यानपूर्वक विचार करें और यदि इसमें ठीक बातें हो अपनाने, यदि अपूर्ण अवस्था किसी अंश में दृष्टिपूर्वक बातें हो विचार-विनिमय के उपरान्त उसे ठीक करें। हिन्दी के क्षेत्र में कार्य करने वालों के दृश्य-प्रदर्शन के लिए यह निराश आश्चर्यक है कि हम और आप स्पष्ट रूप में समझे रहें कि आखिर किस हिन्दी के लिए हम और आप अपना जन-जन-जन खता रहे हैं। हिन्दी, भाषा की यह परिभाषा निम्नलिखित है—“व्यापक अर्थ में हिन्दी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों के रूप में आर्यावर्त के मध्यदेश अर्थात् वर्तमान हिन्दप्रान्त (संयुक्तप्रान्त), मद्रासीसख, राजस्थान, मध्यप्रान्त, बिहार, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब प्रदेश की मूल जनता की मातृ-भाषा है इन प्रदेशों के प्रवासी भाई भारत के अन्य प्रांतों तथा विदेशों में आवास में अपनी मातृ-भाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दी भाषा का साहित्यिक प्रचलित साहित्यिक रूप सहीबोली हिन्दी है, जो मध्यदेश की पदी-लिखी मूल जनता की शिखा, पद्म-पद्मद्वार तथा पद्म-पद्मद्वार अर्थात् की भाषा है और साधारणतया देवनागरी लिपि में लिखी तथा नाम



कोठी रूप को साहित्यिक माध्यम के रूप में चुन लिया है। साहित्यिक गूणीकोठी हिन्दी के द्वारा हमारे कवि, लेखक, व्याख्याता आदि अपने-अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। कभी मुझे यह उल्लासना सुनने को मिलता है कि हिन्दी भाषा का इतना चरित्र है कि हिन्दी भाषा किने कहा जाए। यह मनमंज में होता। मेरा उत्तर है कि यह एक भ्रम-मात्र है। साहित्यिक हिन्दी यदि आप काव्यनिक हिन्दी के रूप को मनमंजना चाहते हैं तो काव्यी, साधु, मियमशम, रंगभूमि, गङ्गुडार आदि हिन्दी भी आपनिक साहित्य कृति को उठा लें। व्यक्तिगत अभिरुचि तथा ऐसी कारण छोटी-छोटी विशेषताओं का रहना तो स्वाभाविक है किन्तु आप इन सबमें समान रूप से एक वैसी विचित्र, सुमंजस तथा टकसाली भाषा पायेंगे, कि जिसके व्याकरण, शब्द-समूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श में आपको कोई प्रयत्न भेद नहीं मिलेगा। यह साहित्यिक हिन्दी प्राचीन भारत की संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अव-भंश आदि भाषाओं की उत्तराधिकारिणी है और कम-से-कम सभी-वर्ग तो भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अपने ऐतिहासिक प्रतिनिधित्व को कायम रखे हुए है। साहित्य के लिए भाषा का माध्यम अनिवार्य है। अतः भाषा के रूप तथा आदर्शों के सम्बन्ध में भ्रम अथवा मतभेद अंत में साहित्य के विकास में बाधक हो सकता है। इसीलिए सबसे पहले इस संभव भ्रम की ओर मुझे आपका ध्यान आकषिप्त करना पड़ा। हिन्दी के सम्बन्ध में दूसरी गड़बड़ी उसके नाम के विषय में कुंवर्तों से फैल रही है। कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि आश्विन नाम में क्या रखा है। एक हद तक यह बात ठीक है, किन्तु आप अपने पुत्र का नाम रखीम और रखें अथवा रामस्वरूप; इससे कुंवर्त को कोई फर्क पड़ेगा। व्यक्तियों का प्रायः एक निश्चित नाम होता है। रामस्वरूप का अर्थ आपने कम देखा-सुना होगा। अतिरिक्त नामकरण संस्कार के उपरान्त

परिस्थिति के अनुसार स्कूल में नाम लिखाने में बाद से, वही नाम आजीवन व्यक्ति के साथ चलता रहता है। व्यक्ति के जीवन में कई बार नाम बदलना अपवाद स्वरूप है। यह बात मायाओं के नाम पर भी लागू होती है। अभी कुछ दिन पहले तक जब मध्यदेशीय साहित्य की भाषा प्रधानतया मज तथा अवधी थी उस समय हिन्दी के लिए "भाषा" या "भासा" शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता था। इसके साथ प्रदेश का नाम जोड़कर अवसर मज भाषा, अवधी भाषा आदि रूपों का व्यवहार हमें मिलता है। गत सौ, सवा सौ वर्ष से जब से हिन्दी के लक्ष्मी बोलो रूप को इस मध्यदेशवासियों ने अपने साहित्य के लिए अपनाया तब से हमने अपनी भाषा के इस आधुनिक साहित्यिक रूप का नाम हिन्दी ही रखा। तब से अब तक इस नाम के साथ किताबा इतिहास, किताबा मोह, किताबा आदर्श बड़ता गया इसे बदलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। भला हो या बुरा हो, अपना हो या व्युत्पत्ति की दृष्टि से पराया हो, हमारी भाषा का यह नाम पन्न गया और चल रहा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का दिया आर्यभाषा नाम निःसन्देह अधिक वैज्ञानिक था तथा मध्यदेशीय संस्कृति के अधिक निकट था किन्तु यह नहीं चल सका और यह बात यहाँ ही समाप्त हो गई। किन्तु इधर हमारी भाषा के नाम के सम्बन्ध में अनेक दिशाओं से प्रयास होवे दिखलाई पड़ रहे हैं। मेरा संकेत यहाँ तीन नये नामों की ओर है—अर्थात् हिन्दी-हिंदुस्तानी, हिंदु-स्तानी तथा राष्ट्र-भाषा। यदि ये नाम इस भेदी के होते, जैसे हम अपने पुत्र रामप्रसाद को प्रेमवश मुनुषा, पुनुषा और बेटा नामों से भी पुकार लेते हैं तब तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु मुनुषा, पुनुषा तथा बेटा रामप्रसाद के स्थान पर चलवाना मेरी समझ में अनुचित है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि नाम-परिवर्तन सम्बन्धी यह उसी हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रेम के कारण नहीं है। इनमें से कोई भी नाम किसी असिद्ध हिन्दी साहित्य-सेवी

आया है। इस विचार से सूत्रधार प्रायः देश के राज-  
 मन्दित की चिन्ता रखने वाले महापुरुष हैं। हमारी  
 के साथ यह सिखवाइ करना अब उचित नहीं प्रतीत  
 है राजनीतिज्ञ पण्डित यदि ये सोचते हैं कि हिंदी का  
 वे उसे किसी दूसरे वर्ग के गले उतर सकेंगे तो वह  
 ग्राह्य है। प्रत्येक हिंदी का विद्यार्थी यह जानता है कि  
 प्रारम्भ में लक्ष्मी बोली उर्दू भाषा के लिए प्रयुक्त होना  
 अपनी भाषा के लिए जब यह नाम अपनाया, तो दूसरे  
 होकर हिंदुस्तानी बोलवा उर्दू नाम रख दिया। यदि  
 जाने लगे तो दूसरा वर्ग हटकर कहीं और जा पहुँचेगा।  
 जैसे डेड भारतीय नाम को जो दूसरे वर्ग से स्वीकृत  
 है। समस्या वास्तव में नाम की नहीं है, भाषा-सौखी  
 भार लक्ष्मी बोली उर्दू बोली को तथा लक्ष्मी  
 भाषा को स्वीकृत करने की उद्यत ही तो मैं गिरणम  
 दूसरे वर्ग की हिंदी नाम भी फिर से स्वीकृत करने में  
 लगी। किन्तु क्या हमसे अपनी भाषा-सौखी तथा लक्ष्मी-  
 लुप्त जा सकती है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। संभव है  
 थोड़े दैन, कि तु भारत सब तक भारत है सब तक देश  
 राजनीतिक मुद्दियों के कारण हमारी भाषा से लक्ष्मी-  
 राजनीतिज्ञों से मेरा सादर अनुरोध है कि वे हमारी  
 में वह एक नई गड़बड़ी उपस्थित न करें। यदि हममें  
 सब तो इस पर विचार भी किया जा सकता था कि  
 की हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी बोलवा उर्दू-भाषा  
 में हिंदी-उर्दू की समस्या हल नहीं होगी। हम  
 जाने का एक ही उपाय था—वा को स्वीकृत प्रमाण  
 उपाय की भाषा में साहित्य-रचना करवाना अपना-  
 से स्वीकृत प्रमाण की भाषा में रचना करवाना।

यदि इसे आप असंभव समझते हों तो हिंदी और उर्दू के बीच में एक नये नाम के गढ़ने से कोई फल नहीं । हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्र-भाषा नाम के कारण हिन्दी की साहित्यिक शैली के सम्बन्ध में कुछ लेखकों के हृदय में भ्रम फैलने लगा है इसी कारण मुझे अपनी साहित्यिक भाषा के नाम के सम्बन्ध में आपका इतना समय नष्ट करने का साहस हुआ ।

तीसरी समस्या, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, हिन्दी भाषा और साहित्य के स्थान की समस्या है । जिस तरह प्रत्येक भाषा का एक घर होता है—बंगाली का घर बंगाल है, गुजराती का गुजरात, फारसी का ईरान, फ्रांसीसी का फ्रांस उसी प्रकार हिन्दी भाषा और साहित्य का भी कोई घर है या होना चाहिये, यह बात प्रायः मुझ की जाती है । इधर कुछ दिनों से हिन्दी के राष्ट्र-भाषा अर्थात् अखिल भारतवर्षीय अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने के पहलु पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि उसके घर की तरफ हमारा ध्यान ही नहीं जाता । वास्तव में हिंदी भाषा और साहित्य के दो पहलू हैं—एक प्रादेशिक तथा दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय । हिन्दी भाषा का असली घर तो आर्यावर्त के मध्यदेश में गंगा की घाटी में है जो आज विचित्र रूप से अनेक प्रांतों तथा देशी राज्यों में विभक्त है । हमारी भाषा और साहित्य की रचना के प्रधान केन्द्र संयुक्तप्रान्त, अढ़ाकौसब, मध्यप्रान्त, राजस्थान, बिहार, दिल्ली तथा पंजाब में हैं । यहाँ की पढ़ी-लिखी जनता की यह साहित्यिक भाषा है—राष्ट्र-भाषा तो अभी नहीं कह सकते । इन प्रदेशों के बाहर जो भारत की जनता की साहित्यिक भाषाएँ मिलती हैं, जैसे बंगाल में बंगाली, गुजरात में गुजराती, मद्रास में तमिल आदि । इन अन्य प्रदेशों की जनता तो हिन्दी को प्रधानतया अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय के साधन-स्वरूप ही देखती है । प्रदेश की अपनी-अपनी साहित्यिक भाषा है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए, कुछ लोगों के चाहे उन्हें हिन्दी की भी आवश्यकता आज पड़ती है ।

हम हिन्दीयों की साहित्यिक भाषा भी हिन्दी है, अपनी भाषा भी हिन्दी ही है। हिन्दी के बनने-बिगड़ने से गुजराती या मराठी की भाषा या साहित्य पर कोई विशेष पड़ता इसलिए हिन्दी के संबंध में विचार करते समय उस व्यक्ति के समान दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। हिन्दु हिन्दु साहित्य के बनने-बिगड़ने पर हम हिन्दीयों की मरिचक की बनना-बिगड़ना निर्भर है। उदाहरणार्थ अन्तराष्ट्रीय काव्य भारतीय, ईरानी, जापानी लोग अपनी काम बजाइ अपने ही हैं और योग्यतानुसार सही शब्द प्रयोग करते रहते हैं हिन्दु का अपनी भाषा के हित-अनहित के संबंध में विशेष चिन्ता स्वाभाविक है। इस संबंध में एक आदर्शपूर्ण विद्वान् ने एक निम्न में अपने विचार बहुत जोरदार शब्दों में प्रकट किये हैं। उनके स्मरण रखने योग्य वाक्य पड़नीय है :—“मैं कहता हूँ क्यों की हिन्दी नहीं कहा जाता, क्यों मातृ-भाषा नहीं कहा जाता, क्यों बात की स्वीकार करने में हिचकते हैं कि उनके द्वारा लोगों का दुःख अभिव्यक्त होता है; राष्ट्र-भाषा अर्थात् विचारों की भाषा, राजकीय भाषा, कामबजाइ भाषा वही चीज प्रधान हो गई और मातृ-भाषा साहित्य-भाषा, हमारे कदम-हाथ की भाषा गीत। हमारे साहित्यिक दार्ष्टिक्य का इससे बड़ा अन्य प्रदर्शन क्या होगा।”

वास्तव में हिन्दी भाषा और साहित्य का उत्थान-पतन प्रधानतया हिन्दी-भाषियों पर निर्भर है। हिन्दी भाषा को जैसा रूप वे देंगे तथा उसके साहित्य की कितना ऊपर वे उठा सकेंगे उसके आधार पर ही अन्य प्रान्तवासी राष्ट्र-भाषा हिन्दी को, सीन सकेंगे व उसके संबंध में अपनी धारणा बना सकेंगे। इस समय अत्यन्त एक निम्न परिस्थिति होने जा रही है। हिन्दी-भाषियों को अपनी भाषा आदि का रूप रिया करके राष्ट्र-भाषा के दिमागियों के सामने रखना चाहिये वा। इस समय राष्ट्र-भाषा अर्थात् हिन्दी का रूप तैयार करके हम हिन्दीयों को

हते हैं। इनका प्रधान कारण हमारा अपनी भाषा की ठीक सीमाओं  
 न समझना है। हिंदी भाषा और साहित्य अक्षयवट के समान है।  
 इसे अक्षयवट इसलिए कहता है कि वास्तव में संस्कृत, पाळी,  
 प्रकृत, अपभ्रंश आदि पूर्वकालीन भाषाएं तथा साहित्य हिंदी भाषा के  
 पूर्व रूप हैं। हिंदी इनकी ही आधुनिक प्रतिनिधि तथा उत्तराधि-  
 तायी है। इस अक्षयवट की जड़ें, तना तथा प्रधान शाखाएं आर्यावर्त  
 मध्यदेश अथवा हिंदी-प्रदेश में स्थित हैं, किन्तु इस विशाल वट वृक्ष  
 सिन्धु हरित पर्वतों की छाया समस्त भारत को शीतलता प्रदान करती  
 है। भारत के उपवन में इस अक्षयवट के चारों ओर बंगाली, आसामी,  
 मैथिली, उड़िया, तमिल आदि के रूप में अनेक छोटे-बड़े नये-पुराने वृक्ष  
 हैं। इन सबके ही द्वितैषी हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति का मूल  
 वैशिष्ट्य तो यह वट वृक्ष ही है। इसके सोचने के लिए और सुख  
 देने के लिए वास्तव में इसकी जड़ों में पानी देने तथा इसके तने की  
 रक्षा करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में, घर के मुसिया की  
 रक्षा, इस सुख वट की हरी-हरी पत्तियों उपवन के शेष वृक्षों की रक्षा,  
 रूख के आवरण तथा प्रचंड वायु के कोप से बचाव ही करनी होगी। मान  
 व मूल और शाखा में भेद नहीं कर पा रहे हैं। भारत के भिन्न-भिन्न  
 जगहों में पाया जाने वाला हिंदी का राष्ट्र-भाषा का स्वरूप तो अक्षयवट  
 की शाखाओं और पत्तियों के समान है। यह शाखा-पत्र समूह कपड़े  
 फटेने या पानी डालने से पुष्ट तथा हरा नहीं होगा, उसको पुष्ट करने  
 एक ही उपाय है जड़ को सोचना और तने की रक्षा करना। मेरी  
 समझ में हिंदी भाषा और साहित्य के इन दो भिन्न चेतनों को स्पष्ट  
 रूप में समझ लेना आवश्यक है। हिंदी के घर में हिंदी को  
 रक्ष करना मुख्य कार्य है और हिंदी-द्वितैषियों की शक्ति का प्रधान  
 कारण इसमें स्थित होना चाहिए 'अग्निं मूलं नैव शाखां न पत्रम्'।  
 अन्तर्जातीय भाषा के रूप में हिंदी का अन्य भाषाओं में प्रचार भावी-  
 भारत की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण समस्या है। यह क्षेत्र प्रधानतया

जमींदारों का है और इनका संबंध अन्य वर्गों के दिन-रात है। यतः इन क्षेत्र से इन वर्ग के लोगों को कार्य करने देना चाहिए। हिन्दी-भाषियों को तथा साहित्यिकों को इन क्षेत्र में काम करने में सहायता करने के लिए सदा सहर्ष उद्यत रहना चाहिए; किन्तु संबंध में हिन्दी-भाषियों तथा साहित्यिकों को अपनी शक्ति का प्रयोग करना चाहिए।

हिन्दी भाषा और साहित्य के संबंध में निम्नानुसंधी कुछ समस्याओं की ओर मैंने ध्यान आकर्षित किया है। यदि हम इन समस्याओं का निवारण हो जाय तो हमारी अनेक कठिनाइयाँ समाप्त हो जायेंगी। समस्याभार के कारण मैं निम्न का विवेचन अस्तर के साथ तो नहीं कर सका किन्तु मैंने अपने दृष्टिकोण को भाषा-व्यवस्था में रखने का उद्योग किया है। हमारी भाषा के उत्थित विकास तथा नव साहित्य-निर्माण में और भी अनेक छोटी-छोटी कठिनाइयाँ उपस्थित हैं। इनका संबंध प्रधानतया हिन्दी-भाषियों से है जिनमें से भी कुछ के संबंध में मैं अपने विचार संक्षेप में आपके सामने प्रस्तुत करना चाहूँगा।

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में बाधक एक प्रधान समस्या हिन्दी-भाषी प्रदेश की द्विभाषा समस्या है। इस संबंध में मैंने कहा कि साहित्य तथा संस्कृति की दृष्टि से हिन्दी-प्रदेश की उन्नति के रूप में दो भाषाओं और साहित्यों की प्रत्यक्ष धाराएँ बहती हैं। पश्चिमी मध्यदेश अर्थात् पंजाब, दिल्ली, पश्चिमी संयुक्त प्रदेश, राजस्थान के जयपुर आदि के राज्यों में तो उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में ही हिन्दी का आधिपत्य उत्पन्न हुआ। हिन्दी प्रदेश की यह द्विभाषा समस्या एक असाधारण समस्या है क्योंकि बंगाल, गुजरात, तमिल, कर्नाटक आदि भाषा-प्रदेशों में भी अन्य भाषा-प्रदेश के सामने यह संकट कम-से-कम नहीं

को वर्तमान नहीं है। उदाहरण के लिए बंगाली भाषा प्रत्येक बंगाली की अपनी प्रादेशिक भाषा है; चाहे वह हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध; जैन कुछ भी हो। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मैं हिंदी-उर्दू-मिलन को असंभव समझता हूँ—वास्तव में दोनों में जमीन-भासमान का अंतर है। हिंदी लिपि, शब्द-समूह, तथा साहित्यिक आदर्श वैदिक काल से लेकर मगध-श काल तक की भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत है। उर्दू लिपि, शब्द-समूह तथा साहित्यिक आदर्श हिंदी-प्रदेश में कल आए हैं और अभारतीय दृष्टिकोण से खराब हैं। हिंदियों की साहित्यिक सांस्कृतिक भाषा केवल हिन्दी है और हो सकती है। किंतु हिंदी के सम्बन्ध में एक भ्रम के निवारण की नितांत आवश्यकता है। वह यह कि हिंदी हिंदुओं की भाषा न होकर हिंदियों की भाषा है। अन्यदेश तथा हिंदी प्रदेश में रहने वाले प्रत्येक हिन्दी को—चाहे वह वैष्णव हो या शैव, मुसलमान हो या ईसाई, पारसी हो या बंगाली—हिंदी भाषा, साहित्य और लिपि को अपनी वर्गीय चीज समझकर सबसे पहले और प्रधान रूप में सीखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वर्गीय, प्रादेशिक या साम्प्रदायिक लिपि तथा भाषा को भी सीखे इसमें मुझे आपत्ति नहीं, किन्तु उसका स्थान हिन्दी प्रदेश में द्वितीय रह सकेगा, प्रथम नहीं। मेरी समझ में, जिनकी मान्य-भाषा हिंदी है और जो यह समझते हैं कि वास्तव में हिंदी ही हिंदी प्रदेश की सच्ची साहित्यिक भाषा उन्हें दूसरे पक्ष के सामने विजय के साथ, किंतु साथ ही हार के साथ, अपने इस दृष्टिकोण को रखना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विशेषतया परिचामी हिन्दी प्रदेश में हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रत्येक धर्म व जाति के लोगों में इस भावना का प्रचार करने का निरंतर उद्योग हो। मैं उर्दू के विरुद्ध नहीं [ किंतु मैं उर्दू को हिंदी-प्रदेश में हिंदी के बराबर नहीं रख पाता हूँ। मैं उसे एक द्वितीय भाषा के रूप में ही सोच पाता हूँ। 'हिंदी-उर्दू' की समस्या की हल करने का यही एक उपाय है। दूसरा



सदा होता सीखा है। अभाषारण्य विरोधी परिस्थितियों तक में हम अपनी पताका फहराते रहे हैं। शोषकवर्ग की सहायता तो हमें कभी मिली ही नहीं। हमारे हिन्दी प्रदेश के दरबारों में अब फ़ारसी राज-भाषा थी उस समय हमने सूर, कबीर, और तुलसी नैदा भिये थे। फ़ारसी आई और खली गई किन्तु सूर-तुलसी-कबीर तो बरकरार हैं। हमारे प्रदेशमें अब अंग्रेज़ी राज-भाषा हुई तब हमने अपनी तपस्वा से रत्नाकर, प्रसाद और प्रेमचंद-जैसे रत्न उत्पन्न किये। अंग्रेज़ी जा रही है किन्तु यह निश्चय है कि हमारे इन रत्नों की समस्त दिन-दिन बढ़ती जायगी। आज भी राजनीतिक परिस्थिति हमारी भाषा और साहित्य के लिए पूर्णतया अनुकूल नहीं है, किन्तु हमें इसकी चयन-भा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यदि हमारा आत्म-विरचय कायम रहा यदि हमारे हृदयों में भारतीय संस्कृति का चिराग जलता रहा तो मध्यप्रदेश के इस ब्रह्मचारी गोन के निम्न प्रवाह को संभार की ओर भी शक्ति नहीं रोक सकती।



## हिन्दी का स्वरूप

( श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' )

यह लेख का विषय है कि हमारे देश के मुसलमान भाई न जाने क्या ।।ह समझ बैठे हैं कि भारतवर्ष से बाहर की भाषाएँ, भारतीय भाषाओं की अपेक्षा, उनके अधिक निकट हैं । बात जैसी है, उसे वैसी ही समझ लेना चाहिये । आज का भारतीय मुसलमान, पानी पका-खिन्ना, नेता-उधे का, मुसलमान अभातीय, किंवा भारतीय संस्कृति-विरोधी, है । और, आज के भारतीय मुसलमान में जो वह भारतीयता-विरोधी मानस-प्रतिथि दिसलाई दे रही है वह कुछ बुरा नहीं है । उन्हीं भाषा के विकास के इतिहास पर यदि हम विचार करें तो हमें पता चलेगा कि उसका यह वर्तमान स्वरूप भारतीयता-विरोधी भुस्त्रिम भावना का ही प्रतिकल है । इस समय में इस धरन की कदापीद में न पड़ूँगा कि भारतीय मुसलमान समाज की भारतीयता-विरोधिनो मनो-वृत्ति के ऐतिहासिक कारण क्या हैं ? बिना किसी ऐतिहासिक विवेचन के यदि मैं सन् १९४९ में दिल्ली में व्यक्त किये गए विचारों को दोहरा दूँ तो आपको मेरा मन्तव्य स्पष्ट रूप से अवगत जायगा । इस देश इस्लाम ने अभातीय स्वरूप धारण किया है, और दिन-प्रति-दिन के भारतीयता विरोध का यह रंग और गहरा होता जा रहा है ।

मनवर्ष कहा या कि "भारतीय मुसलमान, भारतीय संस्कृति

भारतीय इतिहास, भारतीय बीर पुत्रों और भारतीय परम्परा विज्ञानीय समझना ही अपने इस्लाम के प्रति भक्तिभावनिष्ठता का प्रत्यक्ष लक्ष्य मानना है। अतः वह भारतीय भाषा को भारी नहीं मानता। वह दुर्भाग्य का शिकार है। पर है वह वचार्थ जान। आज मुर्खों का सुसज्जमान अपनी मुर्खी भाषा से शब्द चीन-चीन कर निकाल रहा है। आज ईशान का सुसज्जमान आरामी भाषा में अपनी के शब्द निकाल कर अपनी भाषा को एवं सुसंस्कृत कर रहा है। पर आज का भारतीय सुसज्जमान प्रमाद के वश होकर कि समारोहता इस्लाम-भक्ति की लो अपनी उर्दू भाषा में अपनी शब्दों की सुमेद रहा है। वह बिड़बना है। भारतीय सुसज्जमानों की इस मनोवृत्ति का कारण हम उत्पत्तियों के हिन्दू, जिन्होंने अपने धार्मिक संकीर्ण के कारण अपनी सही-गली परिपारी पूजा के कारण, अपनी संस्कृति को मनोभावों की विह्वल कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि धर्माश्रितकी जन हमारे शुद्ध स्वरूप को देख न पाये। का सी हो, भारतीय सुसज्जमान की इस घराहीय, अपनी धर्म किंवा भारतीयता-विरोधी रुझान के अस्तित्व को स्वीकृत करके अपने की भाषा सम्बन्धी भक्ति का निर्णय करना है। मेरा प्र विरवाग है कि यदि भारतीय सुसज्जमान को इस्लाम के मन्त्र का दर्शन करना अभीष्ट है तो उसे अपने मन और प्राणों को भा के सांस्कृतिक रंग में रँगना पड़ेगा। जो मेरे सुसज्जमान मित्र आए हैं और जिन्होंने वहाँ के सुसज्जमानों के मनोभावों को सम ग्रहण किया है, उनका कहना है कि आज का मिथी सुसज्जमान पूर्वज परउन सम्राटों के प्रति अदा-भक्ति का, एवं उनकी अवा वाली महती सांस्कृतिक विशालताओं में गौरव का अनुभव

अच्छे, सच्चे मुसलमान बनने के लिए अच्छे-सच्चे भारतीय बनने की प्रेरणा प्राप्त करनी पड़ेगी ।”

हमारे देशवासी भाइयों की—अर्थात् हमारे मुसलमान भाइयों की—भाषा सम्बन्धी नीति इस बात का एक और प्रमाण है कि उनका मनो-भाव अत्यन्त भारतीय है । उर्दू भाषा के विकास और उसके आरम्भ का क्रमागत इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि उर्दू के उन्नायकों ने एतद् देशीय शब्दों—संस्कृत किंवा प्राचीन भाषाओं में व्यवहृत होने वाले शब्दों—के बहिष्कार की भित्ति पर ही उर्दू-ए-मी-अस्ल का प्रसार निर्मित करने की ठान ली थी । अर्द्ध उल्लेख नवाब सैयद नसीर खाँ के ‘मुगल और उर्दू’ नामक ग्रन्थ का एक उद्धरण पं० चन्द्रबख्शी पांडेय ने अपनी ‘उर्दू कब और कैसे बना’ नामक पुस्तिका में प्रकट किया है । नवाब सैयद नसीरखाँ महाशय का कथन इस प्रकार है:—

“उमदुल्ल मुक़्त ने और उमरा के मुहाविरा से दिल्ली में एक ‘उर्दू अंजुमन’ कायम की । उसके जलसे होते, ज़बान के मसपले बिजते, बीजों के उर्दू नाम रले जाते, लफ्ज़ों और मुहाविरों पर बहसें होतीं, और बड़े रंगों-मग़कों और खान-खीन के बाद ‘अंजुमन’ के दफ्तर में यह उद्दीष्टगुदा अस्फाज़ व मुहाबरात क़ज़मबन्द, होकर महफ़ूज़ किये जाते । और बज़ीज़ मियदज़मुता खरीब, इनकी तकसें दिव के उमराब हस्ता के पास भेज़ दी जातीं और वे उनकी तज़वीद को पज़ू जानते और अपनी-अपनी जगह उन खफ़ज़ों और मुहाविरों को फेज़ाते ।”

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि उर्दू भाषा को विकसित करते समय उसके निर्माताओं के मन में इस देश के शब्दों को बहिष्कृत करने की भावना थी । यदि हम सस्वर के उस शेर को याद करें जो उन्होंने नासिक के सम्बन्ध में कहा था तो हमारा यह सन्देह और भी दृढ़ हो जाता है । सस्वर महाशय धीरुक्त धार्मिक की प्रशंसा में में करते हैं:—

मुलमुल्ले सीराज को दे रखे नातिक का राखर ।  
हरकदां उसने किया है कृपदाय सम्मनऊ ॥

हिंदिन् गोविन्दे तो किताना क्या अभासीय क्या भासीय  
विरोधी मनोभाव है । भाषिक की प्रशंसा इतिहास की गई कि उन्होंने  
समस्त की गलियों को इरफदान बना दिया । अर्थात् अपनी रचनाओं  
में उन्होंने इतना अधिक सतृप्त-देशीय शब्द बहिष्कार किया और  
फारसी शब्दों की इतनी दूँत-डूँत की कि अस्मत् की गलियाँ इरफ-  
दान बन गईं । मेरा तात्पर्य यह है कि उन्हें के विद्वान की वह गति  
थी गलती रही । स्वयं कवि गुरु भीषण मित्रा नातिक ने अपने  
एक शेर में इसी भाषना की पुष्टि बड़े गर्व के साथ की है । वे कहते हैं—

जो ये कहे कि रेखता वसूँ कर हो रखे फारसी ?

गुजरतये मालिष एक बार पड़के चरो मुनाके यों ।

उन्हें को फारसी का ईर्ष्या-भाजन बनाना, अर्थात् देशी समस्त,  
समस्त शब्दों से उसे विरहित करना, एक प्रकार का गुप्त समझा जाता  
है । अपने देश की राष्ट्रीय भाषा के प्रथम को सुखमाने समस्त हमें हम  
गुरु-भूमि—हम ऐतिहासिक भाषना का—गुरु स्वान रतना होना  
राष्ट्रीय वृद्धता की उपागमा में मैं अपने को किसी से भी पीछे जाने को  
तेवार नहीं हूँ । यह मेरा वरम सीमाव्य है कि मुझे उम गुप्त गुप्त का  
परमानुगामी, सदयोगी एवं वातावरण-आश्रित होने का गौरव प्राप्त है,  
जिसका नाम लक्ष्मणचंद विद्याधी का और जिसने हिंदू-मुस्लिम देश  
की स्थापना के समयमें मैं अपने साथी का आदर्श कर दिया । लक्ष्म-  
णचंद की परिवारी जिसकी जाती हो, वह निर्दोष की भाषना से ईर्ष्य  
नहीं की सकता । मैं मुस्लिम संस्कृति, इस्लाम और उन्हें का भक्त हूँ ।  
मैं उन्हें का विमान नहीं चाहता । पर, वृद्धता के अम-आम में वरदा  
मैं अपनी भाषा—हम देश की बहुवचन-स्वीकृत राष्ट्र-भाषा हिंदी का  
प्रयोग नहीं करना चाहता ।

मैं इस बात का धोर विरोधी [ कि हिन्दुस्तानी नामक किसी-किसी-कदियत भाषा के सृजन के नाम पर हिन्दी का स्वतंत्र विद्युत किया जाय । प्रश्न सीधा-सा है—क्या आप हम राजनीतिक, अर्थ-शास्त्रीय, वैज्ञानिक, गणित विषयक, ज्यामिति शास्त्रीय आदि शब्दों को संस्कृत से, लेने को तैयार हैं ? अथवा क्या ये नित नव किन्तु सतत प्रयोगों में आने वाले शब्द अरबी या फारसी से छिदे जायेंगे ? मेरे देश की ऐतिहासिक परिपाटी, संस्कृति, जन-रुचि एवं जन-हित भावना का यह आदेश है कि वर्तमान आवश्यकता एवं वर्तमान विचार-धारा को व्यक्त करने वाले अभीष्ट शब्द संस्कृत अथवा देशी भाषाओं से ही आर्य । अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ हिंदी भार उर्दू का संघर्ष होगा ।

इस संघर्ष को दूर करने का एक-मात्र उपाय यह है कि अपने देश की विविधता को ध्यान में रखकर हम इस देश की दो राष्ट्रीय भाषाएँ मान लें । यत वर्ष इस संबंध में मैंने कहा था कि हिन्दी तथा उर्दू, दोनों को राष्ट्र-भाषा मान लेने पर निःसन्देह हिन्दी वह राष्ट्र-भाषा होगी जिसे देश का बहुमत समझेगा, और उर्दू वह राष्ट्र-भाषा होगी जिसे देश का एक महत्वपूर्ण अल्पमत बिना समझे भी—राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन देखकर सम्तोष-जाने भेगा । 'बिना समझे भी'—ये शब्द मैंने जान-बूझ कर रखे हैं । गुजरात, महाराष्ट्र, काठियावाड़, कर्नाटक, उत्तराखण्ड, बंगाल, आसाम, मध्यप्रान्त, बिहार, राजस्थान आदि प्रांतों का सुसज्जमान संस्कृत-मिश्रित भाषा ही समझ सकता है । वह अरबी-फारसी के शोक से शोचित भाषा की नहीं समझ पाता है । पर, किया क्या जाय ? विवशता है । आज के युग में सुसज्जमान आई हमारी वपार्य व्यवस्था, तथा एवं उपादेय बात को स्वीकृत करने के लिए,—इस बात को मानने के लिए कि भारतीयता के द्वारा ही, अर्थात् संस्कृत शब्द-भंडार के द्वारा हुई अभिव्यक्ति के मान्यम से ही, वह विद्युद्विज्ञान के वस्तुओं को हृदयंगम करने में समर्थ हो सकेगा—तैयार नहीं है । ऐसी



मैं बल पूर्व चैत है, जब तक हममें कर्मठता का किंचित्-मात्र भी शंक है, तब तक हिन्दी मर नहीं सकती। मैं तो स्वप्न-दर्शी हूँ। मैं उस भविष्य का स्वप्न देख रहा हूँ, जब भारतीय मुसलमान, अपनी वर्तमान अज्ञान-निद्रा को परित्यक्त करके उठ सदा होगा और वह देखेगा कि वास्तविक भारतीयता को प्रदूष करने के परघात ही वह सदा, अन्धा, मुसलमान बन सकता है। और तब वह 'जय-जय हिन्दी, जय-जय हिन्द' ■ उद्घोष से दिग्निगम्य को प्रवर्धित करता हुआ भारतीय इतिहास में एक नए अध्याय का प्रारम्भ करेगा। स्मरण रखिये, हिन्दी तो इस देश के हिन्दू-मुसलमानों की संयुक्त, सम्मिश्र भाषा है। हमारी हिन्दी केवल सूर और तुलसी ही की नहीं है, वह समुच्चरहीम ज्ञानप्राना, आपसी, रहीम और रसखान की भी है। अतः इस बात को हम सदा स्मरण रखें कि हिन्दी का पक्ष समर्थन करते समय हम संकुचित साम्प्रदायिकता को न अपनायें।







परम्पराएँ उसके उपमा, रूपक आदि अलंकार, मुहावरे, म्याकरण, वाक्यों का संगठन आदि सब देश की संस्कृति और वातावरण से सम्बन्धित होते हैं।

कुछ देरी रुढ़ शब्दों को छोड़कर हमारी भाषा के प्रायः सभी वस्तुमय और सद्भव शब्दों की उत्पत्ति का पता चल जाता है और उनके द्वारा हमको उनके सांस्कृतिक इतिहास की भखक मिल जाती है। भाषा-विज्ञान का एक विशेष विभाग ही इससे सम्बन्ध रखता है।

हमारी भाषा में गो से बने हुए शब्दों की बहुतायत इस बात का प्रमाण है कि हमारी संस्कृति गो प्रधान है। गवाक्ष (खिरकी) गौ की घोंस की तरह गायद पहले गोश होती होगी; भ्रमंजी में एक प्रकार की झकड़टेन Bulls eye lantern कहलाती है गोछी (गायों के बैठने की जगह अब प्रायः मनुष्यों की ही गोछी होती है।) गवेचर्या (गाय खोजने की इच्छा) गोपन (क्षिपत्वा; गाय को पालने या रक्षा करने के लिए उसे क्षिपकर रखते थे) गुहार (पुकारना; गोहार, कोई गाय को क्षिपे जाता है, इस तरह की पुकार) गोपद (गाय के सुर का 'गदा; गोपद हूँ ठरई') गोरस, गम्य, गोमय या गोबर (गोबर जैसे मैशों का भी होता है) गोमूर्तिका (चित्रकाल्य में एक प्रकार की कुन्द-रचना) गोधूति (गौशों के खींचने का सायंकाश का समय; यह बैला विवाह के लिए बहुत शुभ मानी जाती है) गोपुच्छ (गायदुम खोज की कहते हैं) गुरभी (बरोसी या भौंसीजी जिस पर गोरस गरम किया जाता

होशियार और स्वस्थ भी समझा जाता था। इसी प्रकार प्रचीण भी वही होता था जो धीणा के बजाने में होशियार हो। ये दोनों शब्द हमारी संस्कृति से सम्बन्धित हैं। दुलहा शब्द दुर्लभ से बना है और इस बात का लोचक है कि हमारे समाज में घर कितनी मुरिक्क से मिलते हैं। दुहिता का भी ऐसा ही इतिहास है। माता-पिता को वे सुहती रहती हैं इसी से वे दुहिता कहलाती हैं। हिन्दू संस्कृति में कन्या को प्राजीवन देते ही रहते हैं। इसी से शायद उसका दूध् दाप नहीं किया है। कुछ विद्वानों का खयाल है कि गौ-दोहन का कार्य प्रायः कन्यार्थ करती थीं इसलिये वे दुहिता कहलाती हैं।

नापित शब्द का इतिहास उसके गौरव को बताने वाला नहीं है फिर भी उसमें यह ज़रूर निहित होता है कि प्राचीन लोग और कर्म में शुद्धता का कितना ध्यान रखते थे। नापित का मूलरूप है स्नापित, जो निहलाया गया है। और कर्म करने से पहले नार्ह को स्नान कराया जाया जाता था। नार्ह शब्द चाहे स्वतन्त्र रूप से धारी का ही शिरका अर्थ है मीत की लहर लेने वाला किन्तु वह नापित से भी बन सकता है। पत्र शब्द बतलाता है कि पहले पत्र भोजन या ताद-पत्र पर लिखे जाते थे। शहा शब्द पहिया से बना है। पहले जमाने में जमीन के अधिकार-पत्र प्रायः तौके आदि की पहिया पर लिखकर दिये जाते थे जिससे चिरकाल तक नष्ट न हों। इस प्रकार बहुत-से शब्दों के पीछे इतिहास लगा हुआ है और इस इतिहास में हमारी संस्कृति का इतिहास है। इसीलिये भाषा और शब्दों का इतना महत्व है। कवि का जो महत्त्व है वह शायर का नहीं। वह एकरस करि को परमात्मा का समोत्री बना देता है। “कवि प्रणमयानुरागितम्” राजा शब्द का अर्थ है जो प्रमत्तता दे; वह बात बादशाह में नहीं आ सकती। न राखी की सांस्कृतिकता बेतम में है, क्योंकि बेतम का सम्बन्ध बेत से है जो मिर्जा खानों के नाम के खाने लगता है। घांटी का सम्बन्ध घोवटी अथवा बरत से लगाया जाता है लेकिन हमका

सम्बन्ध घोल से भी है। जो धुले यह धोती। यह भी एक स्वच्छता का चित्र उपस्थित कर देती है। पात्र की पवित्रता बरतन में देखन की यही मिश्रणी। शायद पहले पत्रों के ही पात्र बनाये जाते हों। शठक के साथ जो प्राचीनता के सम्बन्ध सन्तु लहे हुए हैं वे शयक में नहीं, और न ग्रन्थ पोथी, पुस्तक की बात किताबों में आती है। ग्रन्थ कहते हैं प्राचीनकाल के सुखे पत्रों की पुस्तक को, जो डोरे से बाँधी जाती थी और कभी-कभी बीच में खेर करके पत्रों को गाँठ के साथ बाँध दिया जाता है।

शब्दों की भाँति ही हमारे मुहावरे भी हमारी संस्कृति के चोतक हैं। कुछ मुहावरे तो प्राचीन साधनों से ग्रथित हैं। भगीरथ प्रयत्न मंगा की महत्ता का चोतक है। दधीचि की इन्द्रियों भारतीय स्वातन्त्र्य का भाव हमारे सामने खे आती है। त्रिशंकु गति दो शक्तियों के संघर्ष में जो एक व्यक्ति के बीच के खरके रहने की गति होती है, वसकी एक सजीव मूर्ति हमारे सामने आ जाती है। सुदामा के पन्धुओं में एक और सुदामा की दीनता और दूसरी और कृष्ण की मित्रवासनता हमारे सामने आ जाती है। पत्र-पुष्प में 'पत्र, पुष्प, फल तोय, यो मे भक्त्या प्रयच्छति' की वाद आ जाती है। विदुर का शाक और शबरी के बेर भगवान् के दीनों के प्रति कृपा भाव के चोतक है। भीष्म की प्रतिष्ठा एकदम हदता की मूर्ति लकी कर देती है।

हर एक देश के मुहावरे वहाँ के वातावरण से तथा वहाँ के लोगों की मनोवृत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। अंग्रेजी मुहावरा 'Killing two birds with one stone' वहाँ के लोगों की सिकारी हिसारक वृत्ति का परिचायक है। हमारे वहाँ इसका शान्दिक अनुवाद 'एक वेल में दो पंखों' अथर्व किया गया है किन्तु इसमें वह आनन्द और सरसता नहीं जो 'एक पंथ दो काज' में है। जीवन भंग करने के लिए अंग्रेजी में मुहावरा है 'Breaking the ice' ठंडे देश में गरम चीज की जरूरत होती है। वरक वहाँ शुष्कता और असहृदयता का



हमारे यहाँ गृहकार में बीमरस का आना एक बे-मेज बात समझी जाती है। नेत्रों की उपमा के नरमिस, लाला या सौखन में देते हैं, कमल, कुसुम या खजूर का उनको ध्यान भी नहीं आता है, हिरण (बाहु) की धाँसों को वे नहीं भूल सकते हैं। आदमी के कद की मुशावरत के सर्व या सरोवर से देते हैं। तमाल का उनको ध्यान भी नहीं आता है। शीरी-परदा या फैला-मज्जू उनके लिए आदर्श प्रेमी हैं, ऊषा-चन्द्रिका या राधा-कृष्ण का स्मरण भूल से कर सें तो कर सें, करना नहीं।

प्रत्येक देश की परम्पराएँ और कथान भिन्न-भिन्न होते हैं और वे वन देश की भाषा और संस्कृति से सम्बद्ध होती हैं। इसीलिए हमको जो अपनी भाषा में आनन्द आता है वह दूसरे की भाषा में नहीं आता है। हमारे संस्कार दूसरी भाषा को ग्रहण करने में हमारा साथ नहीं देते हैं। हमको अन्य संस्कृतियों से वैर नहीं है वे भी फूलें-कल्ले, किन्तु उनके फूलने-कल्लने के लिए हमारी भाषा व संस्कृति का यथिदान न दिया जाय अपना निजाव को बैठना अपने को ही दृढ़ बनाना नहीं है, वरन् संसार की सम्पन्नता का अपहरण करना है।

: १७ :

## राष्ट्र-भाषा का संघर्ष ( डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त )

हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता का संघर्ष सफलतापूर्वक समाप्त हो गया है, परन्तु रोद है कि राष्ट्र-भाषा के लिए आज भी संघर्ष हो रहा है। हिन्दुस्तानी के बढ़ाने से उद्' अपने लिए ही नहीं अपनी उस प्रचैत-निक ज़िपि के लिए भी इत करती है जो हमारे किसी भी प्रदेश की सम्दावधि के लिए उपयुक्त नहीं है। कारण कि देश की धार्मिक और साम्प्रदायिक भाषा अब भी एक-ही जिसके सम्द सारे ही प्रायों के लिए सहज बोधगम्य है, परन्तु हिन्दुस्तानी उन्हें लेकर उद्' नहीं रह जाय और इसी के लिए इतना साम्प्रद किया जाता है।

उद्' ज़िपि के पक्ष में कहा जाता है कि उसमें जिले हुए नाम को कुछ-का-कुछ बदलकर एक के बदले दूसरा कैदी ज़िली पर करी नहीं खटका दिया गया, पर इसके राज्य में ऐसा होना असम्भव भी नहीं। कारी के प्रतिद कार्यकर्ता भी वीरेश्वर अम्बर जेष्ठ में वीरेश्वर के बदले न जाने क्या और अम्बर के बदले गद्दीर से पड़े गए थे। भाग्य से वे ज़िली के कैदी न थे, न कोई गद्दीर बन्दी भी वहाँ था। कारली ज़िपि के कारण पद्मावत की कम दुर्दशा नहीं हुई। हिन्दुस्तानी भजे ही अत ज़िपि में चल सके, हिन्दी तो नहीं चल सकती।

कोई आश्चर्य नहीं। यदि प्रधान मन्त्री परिकृत जवाहरलालजी

हिन्दुस्तानी बोलते जिस बातवरण में वे पले हैं उसमें वही सम्भव था। भले ही वे उर्दू पढ़ें हों या न पढ़ें हों, आश्चर्य तो यहो है कि वे निःसंकोच कुछ संस्कृत शब्द भी बोल जाते हैं।

कलकत्ता-कांग्रेस में हिन्दी का घोष सुनकर स्वर्गीय मोतीलालजी ने कहा था आप लोग खामोश हो जाइए। नहीं तो मैं ऐसी हिन्दी बोलूंगा कि आप लोग भी न समझेंगे।

ऐसी हिन्दी से क्या आशय है। इसे कहने की आवश्यकता नहीं। वास्तवमें उर्दू जनता से कूर-कूर हो रहती आई है। उसके एक उस्ताद दिल्ली से लखनऊ आया लखनऊ से दिल्ली जा रहे थे जो गाड़ी उन्हींने किराए पर की थी, उसका गाड़ीवान समय काटने के लिए कुछ बात करने लगा। उस्ताद ने एक आच बार हाँ हँ कर कहा भाई गाड़ी से उतर जाने दे तेरी बातचीत सुनकर मैं अपनी जवान नहीं बिगड़ने दूँगा।

सुसज्जमानी शासन में अरबी-फारसी के बाद उर्दू उत्पन्न हुई। कांग्रेसों ने भी उसे शासन में बनाए रखा, हिन्दुओं को भी यह गले पड़ी होलफ बजानो पड़ी। आधुनिकता कठिन होती है परंतु सब जानते हैं कि गाँव में उर्दू में लिखा हुआ हुक्मनामा पढ़ने के लिए आदमी हूँटना कितना कठिन था।

महामान्यवर डाक्टर सप्रू का कहना है कि उर्दू के बनने में हिंदू सुसज्जमान दोनों का हाथ है। अथर्व होगा, परन्तु उर्दू के प्राये-इयात में हिन्दुओं का कोई हिस्सा नहीं।

कितने ही काश्मीरी हिन्दू उर्दू के बने लेखक हुए हैं यह कोई बड़ी बात नहीं। बड़ी बात नहीं है कि कन्हैया और बिरहदा के वंशधर अपना अस्तित्व जैसे-का-तैसा बनाए रख सकें।

उर्दू के विपरीत हिन्दी रान्याध्व के विषा केवल अपने ही बल पर बनी रही है। कहा जाया है उर्दू वर्तमान हिन्दी से पढ़ने की है।



परन्तु भारतीय लोकतन्त्र से पहले रहने के कारण मिश्रित राज्य यहाँ रहने का अधिकारी नहीं हो जाता।

सच तो यह है कि ज्यों ही उर्दू ने साहित्य के क्षेत्र में भारतीय अपनाई, हिन्दी ने उससे अपना अधिकार छीन लिया और 'येन तेन गम्यताम्' कहकर उसे छोड़ दिया।

उर्दू का जन्म यहीं हुआ इस कारण वह भी यहाँ नागरी बन सकती है। परन्तु अपनी सीमा में रहकर उसका शरीर संकर और मजबूत है। इस कारण वह हमारी राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती। जो लोग उसे प्रोत्साहन देते हैं वे दूसरा पाकिस्तान बनाने जा रहे हैं मुसलमानों की उचित-अनुचित माँगें मानने जाने से ही पहला पाकिस्तान बना है।

जिम्मा साहब का दो राष्ट्रों का विष उर्दू अपना हिन्दुस्तानी के द्वारा ही फैला और हमारे प्रांत के मुसलमान ही उसके मते में पाकिस्तान के लिए सबसे अधिक विश्वास, परन्तु अब वह स्पष्ट हो गया है। हिन्दुस्तानी की अन्तिम संकड़ा रोप रह गई है। इन्हीं दिनों अलमद में हिन्दुस्तानी का एक सम्मेलन हुआ था। मुना है उसके चारमी विधि के निवेदन पत्र में 'इस्लामवाद' और नागरी विधि के निर्मल-पत्र में 'स्वागत' शब्द का व्यवहार किया गया था। देना करके हिन्दुस्तानी बाको के एक साथ स्वीकार कर लिया। यह अपना ही हुआ।

अब तो यह है कि हमारे भाई जायसी, रहीम और रामान की परम्परा बचाए रखें। अपने हाथों उसे बच न कर दें। त्रिज बीगों के यहाँ जाओ जायसी और अंग्रेजी अपनाई। वे अपने ही देश की भाषा न छोड़ दें। इस बीज की संस्कृति के राष्ट्र उनके लिए बहुत नहीं है जान की विभिन्न शाखाओं के लिए जो आपको पारिभाषिक शब्द बनाने पड़ेंगे वे तो सबके लिए एक समान होंगे वह तो सर्वनाम पारिभाषिक है कि हमारा देश उनके लिए पारिभाषिकी ही त्रिज।

यहाँ अण्डय कोष उपस्थित है और स्वाम जैसे अन्य देव भी आज भी जिसके मन्दो का व्यवहार करते हैं।

हिन्दुस्तानी का निर्माण करके जो लोग अपने नेतृत्व की रक्षा करना चाहते हैं वे सोमनाथ के मन्दिर के पुनर्निर्माण पर तो टीका-टिप्पणी कर सकते हैं और यह नहीं कह सकते कि अथोभ्या, काशी और मथुरा की वे मस्जिदें छोटा दी जाएँ जो मन्दिर तोड़कर बनाई गई हैं और यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर रहे हैं कि न उनमें धर्म है, न संस्कृति। तथा जो हाथ उठाकर विप्लवाग्रों के नकारकार की घोषणा वे अवसर कर रही हैं और बहुसंख्यक जनता को बिटाकर कटुता बनाये चलती हैं।

अरब से ईरान आने पर अरबाह स्वभावतः क्षुद्रा हो गया, परन्तु भारतवर्ष में आकर यह ईरवर न हुआ इसी एक के न होने में सौ दुष्प्रियाम हुए। परन्तु आपस के मगावे यहाँ न रहे तो हमारे वे नेता कहीं जायँ जिनकी पृष्ठ उन्हीं के काय है !

कुछ भी हो, उनका यह विरोध स्वर्ध होना। उसे यहाँ भी बकी-से-बकी जनता का बल प्राप्त है। जिसने उसे राष्ट्र-भाषा के लिए चुना है, मान्यों के साथ केन्द्र को भी उसे मानना होगा। हिन्दी अपने लिए पचपाव नहीं चाहती, भ्याव चाहती है। सत्य उसके पक्ष में है; इसलिए भी उसकी निश्चित है। कोई किसी का अम्म-सिद्ध अधिकार नहीं रोक सकता।

हम अपने अधिकारियों की कठिनाई नहीं बढ़ाना चाहते। अच्छा है, वे स्वयं इसे न बढ़ने दें। लोकतन्त्र में अस्पष्टता यदि बहुमत पर छा आना चाहे तो उसे ऐसा नहीं करने दिया जाएगा।



एव यह था कि सब समस्याओं पर गम्भीर दृष्टि डालने के लिए भाषाओं पर रंगीन ऐनक लगाने की आवश्यकता नहीं रही। अब भाषा की समस्या का निर्णय करने से पूर्व यह सोचने की आवश्यकता नहीं रही कि इस सम्बन्ध में विदेशी सरकार क्या कहेगी या मि० अन्ड्रुसहक अपना कापड़े-खाजम का क्या कसबा होगा ? वे अपना घोरिया-बघना बौद्धिक स्वाभिमत स्थानों को चले गए, और हमें अपने हित अहित की बात सोचने के लिए सर्वथा स्वतंत्र छोड़ गए।

(१) हमारे देश की भाषा हिन्दी होनी चाहिए, क्योंकि यह सर्व-सम्मत है कि राष्ट्र-भाषा यह हो सकती है, जिसे देश के अधिक-से-अधिक व्यक्ति समझ सकें। यह भी सर्व-सम्मत है कि देश में हिन्दी भाषा को समझने और बोलने वालों की संख्या अन्य सब भाषाओं की अपेक्षा अधिक है। मुक्त-प्रान्त, बिहार, मध्यप्रदेश, राजपूताना, मासवा जैसे बड़े प्रान्तों में जन-साधारण की भाषा हिन्दी ही है। पंजाब, बम्बई, बंगाल आदि प्रान्तों में हिन्दी का बहुत व्यापक प्रसार है। महाराष्ट्र और आसाम में भी हिन्दी-भाषा द्वारा मनुष्य का काम चल सकता है। अब तो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्तानी-प्रचार-समिति के प्रयत्नों से महाराष्ट्र प्रान्त में भी हिन्दी जानने वालों की संख्या सातों तक पहुँच चुकी है। हम यदि यह कहें कि भारत के ७२ फीसदी निवासी हिन्दी समझ सकते हैं, और ९० फीसदी निवासी हिन्दी तथा हिन्दी से सम्बद्ध भाषाएँ बोल सकते हैं, तो अत्युक्ति न होगी।

(२) भारत की राजनीति में कृत्रिम साम्प्रदायिकता के प्रवेश से पूर्व हिन्दी, हिन्दू और मुसलमान दोनों की सम्मिल भाषा थी। मध्य-काळ के अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी में उत्तमोत्तम कविताएँ की हैं। मलिक मोहम्मद जायसी, शेखअब्दुल्ला वाहिद, बिरामाजी शेखराई, रसखान, रहीम, सूफी कवि उस्मान आदि कवियों के अतिरि

बारासाद अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ और औरंगजेब के पुत्र आज़म शाह की हिन्दी कविताएँ भी प्रामाण्य होती हैं।

अनेक सुप्रसिद्ध भारतीय बारासादों ने अपने मित्रों तथा शूल-पत्रों में हिन्दी का प्रयोग किया है।

(३) संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से सम्बद्ध होने के कारण देश की अधिकांश प्राकृतिक भाषाओं से हिन्दी का प्राकृतिक निकट सहोदा-सम्बन्ध है।

(४) हिन्दी की लिपि देवनागरी है, जो अनेक-आर्यों परितुल्य और वैज्ञानिक दृष्टि से उत्कृष्ट होने के अनिरिक्त बंगाली, मागधी, गुजराती आदि अनेक लिपियों में बहुत अधिक मिश्रित है। देवनागरी लिपि की भेदना और पूर्णता के विषय में इतना कुछ कहा जा चुका है कि उसे यहाँ पुनरावृत्ति व्यर्थ है।

(५) हिन्दी के पाय साहित्य का ऐसा बहुमुख्य अवधार है कि उससे किसी भी भाषा का मूलक ऊँचा हो सकता है। चन्द्र बरद्वै से लेकर आनन्द चक्रवर्ती, कवियों और गुरुओं ने हिन्दी में जो रचनाएँ की हैं, वह सारे देश की बहुमुख्य सम्पत्ति हैं। वस्तुतः सांस्कृतिक दृष्टि से वर्तमान भारत की १००० वर्ष पुराने भारत से जीवने वाली गुरुकुल वह रचनाएँ ही हैं। वह कीन नहीं जानता कि तुलसी, सूर, कबीर और मीरा की वाणी सारे अल्पकालीन भारत की वाणी है, केवल किसी एक प्रान्त या सम्प्रदाय की वाणी नहीं। इन तथा अन्य अल्पकालीन हिन्दी कवियों ने अपने वाङ्मय के रूप में राष्ट्र को जो अवधार दिया है, वह इतना बहुमुख्य और उत्कृष्ट है कि उससे आधुनिक हिन्दी भाषा-विकास की किसी भी समकालीन भाषा की प्रतिस्पर्धा में आठ ठाकर खड़ी रह सकती है।

(६) हिन्दी का मूल शीत संस्कृत है। हिन्दी को भार या शब्द स वस्तु की भी आवश्यकता हो, वह इसे संस्कृत के अक्षय कोष में हो सकता है। हिन्दी के लिए संस्कृत का शब्द-अवधार सुखा

रहने के कारण, उसकी भाव-प्रकाशन की शक्ति असीम है। संस्कृत की सदायता से आपको हिन्दी द्वारा ऊँचे-से-ऊँचे पेचीदा-से-पेचीदा और कोमल-से-कोमल भाव को प्रकाशित करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

(७) हिन्दी की परम्परा भारतीय संस्कृति की परम्परा से जोड़-प्रोढ़ है।

यह जो निरिच्छत सिद्धान्त है कि कोई राष्ट्र अपनी प्राचीन संस्कृति से अलग होकर जीवित नहीं रह सकता। जैसे मीठ बिना कोई भजन कहा नहीं सकता, इसी प्रकार राष्ट्र भी संस्कृति से पृथक् हो जाय तो अवश्य गिर जायगा।

ये कारण हैं, जो हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा होने का अधिकारी बताते हैं।

इसके विपरीत राष्ट्र-भाषा-वाद की दूसरी दायेंद्वार (हिन्दुस्तानी) के दावे की परीक्षा करें तो हम हम परिणाम पर पहुँचेंगे कि हिन्दु-स्तानी भारत की राष्ट्र-भाषा बनने की योग्यता नहीं रखती, क्योंकि वस्तुतः 'हिन्दुस्तानी' नाम की सिपही भाषा भारत के दो-एक जिलों की घोषणा कर ही भी नहीं बोली जाती। जहाँ बोली जाती है, वहाँ भी वह हिन्दी या उर्दू का ही एक रूप है, अलग कोई भाषा नहीं। उर्दू का राष्ट्र-भाषा होने का दावा काबिस्तान की स्थापना के साथ ही कारिज हो चुका है। उस दावे के स्मरण ही माने पर ही जो 'हिन्दुस्तानी' के दावे पर बहुत जोर दिया जा रहा है। उर्दू भारत को राष्ट्र-भाषा होने के योग्य नहीं थी, वो भी गया वो भी। हिन्दुस्तानी जो वस्तुतः अलग भाषा ही नहीं है। कोई हिन्दी को हिन्दुस्तानी कह देता है, वो कोई आसान उर्दू को। वस्तुतः उसका अलग कोई अस्तित्व नहीं है।

प्रमाण से एक 'बया हिन्द' नाम का पत्र निकलता है। वह हिन्दु-स्तानी भाषा का प्रधान पत्र है। इसके सब लेख देवनागरी और पारसी दोनों लिपियों में छपे होते हैं। उसकी भाषा वास्तव में हिन्दी—

"ठगानीय बानी इतिहास बताता है कि जब मुल्क की गैर-मुस्लिम मुल्क से लड़ाई हुई है तो मुसलमानों ने अपने देश से विरवाय-घात करके दिया है।"

इस वाक्य को पढ़िये तो भाव को विदित होगा 'ठगानी' भाषा का वाक्य बनाने के लिए एक 'विरवाय' दिया गया है, अन्यथा भाषा वाक्य उर्दू का ही पुसोध नहीं। यदि लेखक ऐसा न समझता तो वह न 'इतिहास' शब्द चुनकर वैयर्थ्य लगाने का धन न करता। जब निम्नलिखित रीति से लिखा जाता तो निःसंदेह वह में में सुगमता से समझा जा सकता था।

"इतिहास बताता है, कि जब किसी मुस्लिम देश की वे लड़ाई हुई है, तो अमुस्लिम देश के मुसलमानों ने से विरवाय-घात करके मुसलमान का साथ दिया है।" यह साक्ष्य हिन्दी का वाक्य 'नवा हिन्द' की बोझिल हिन्दी से कहीं अधिक सरल है।

मसले काका रशॉव आरतोव-विधान के जब मसविदे का हिन्दुस्तानी भाषा के गौरव को निरु करने के लिए तैयार किया है। वह मसविदा देवनागरी और फारसी, दोनों लिपियों में प्रकाशित हुआ है। उसे पढ़िये। वह तो सीधा उर्दू भाषा का मसविदा है। कहीं-कहीं काफ़ी काफ़ी पर हिन्दुस्तानी का नाम सार्वक करने के लिए हिन्दी शब्दों के सकेत पूरा रॉक दिये गए हैं, अन्यथा वह तो निचान के संघर्ष की मसविदे का सीधा उर्दू अनुवाद है। जब मसविदे के तो सर्वथा स्पष्ट कर दिया है, कि हिन्दुस्तानी की राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रयत्न बरतुनः राष्ट्र-भाषा पर पर बिछाने के प्रयत्न का कारण ही है। फिर बिमोद की बात यह है कि विधान तो 'हिन्दी' का ही है। 'हिन्दी' न होकर 'हिन्दुस्तानी'।

हिन्दी के लेखक अपनी हिन्दी को हिन्दुस्तानी बनाने के लिए जो पाप काम में जाते हैं, वह यह है कि बीच-बीच में उर्दू के कठिनतम शब्दों को गाड़ें बाँधते जाते हैं। दोनों भाषाओं के बेजोड़ शब्दों का मेलन बनाकर हिन्दुस्तानी के नाम से बाजार में सजाया जा रहा है।

हिन्दुस्तानी के पक्ष में प्रायः यह युक्ति दी जाती है कि यह देश-वासियों के लिए सुगम है। इस युक्ति का उत्तर देने के लिए हिन्दुस्तानी के आचार्य मीराना अबुलक़ासिम आज़ाद के किसी लेख के किसी वाक्यों को पढ़ जाइये, या उनकी तक़ीर सुन लीजिए। यदि आप उर्दू के अपने विद्वान् न हों तो आप मीराना के उस अभिप्राय को नहीं समझ सकेंगे।

'हिन्दुस्तानी' नाम से जिस भाषा का प्रचार किया जा रहा है, वह बहुत-से भारत के किसी प्रांत या प्रदेश की भाषा नहीं है। यह एक नई स्रष्ट है, जो न सरल है, और न सुन्दर है। इसका भारत के प्रतीत काष्ठ से कोई सम्बन्ध नहीं, और न ही किसी काम का साक्ष्य है। फिर उसकी लिपि भी कोई नहीं है।

यदि गम्भीरता से विचार करें तो प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तानी प्रचार का मुख्य उद्देश्य भारत से विदा होती हुई उर्दू और उसकी लिपि को दीर्घ जीवन प्रदान करना ही है। हिन्दुस्तानी भाषा की न पुनियाद है, न दीवारें। यह एक नई तैयार की हुई वस्तु है, जिसे कुछ देशवासी राष्ट्र के तिर पर रख देना चाहते हैं। इससे देश का क्याप्राय तो क्या होगा—आरुधियों की यह संघर्षाभि, जो हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को राष्ट्र-भाषा मान लेने से सन्नत नष्ट हो सकती है, बिरकाद तक सुखमयी रहेगी, और सम्भव है किसी दिन आर्यभट्ट प्रचरक हो उठे। अन्त में राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी बनेगी ही, कुछ दिनों स्पर्ध का वितस्तावाद और चञ्चल रहेगा, जिससे देश का अनिष्ट हो होगा।

यह सम्भवतः बहुत-से देशवासियों को विदित नहीं कि हमारे



देश के प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू की हिन्दुस्तान  
कोई हिन्दी शब्द अधिक प्यारा है। आपने इन दोनों शब्दों  
मुझसे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *The Discovery of India* में  
हैं। आपने लिखा है—

“आपका शब्द 'हिन्दुस्तानी' तुम्हारे हिन्दुस्तान के निवासी के वि-  
शेष होगा है, क्योंकि हिन्दुस्तान से ही हिन्दुस्तानी बना है; परन्तु  
यह बहुत बड़ा शब्द है, और हिन्दी के समान इस हिन्दुस्तानी शब्द  
के साथ कोई ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं  
है।” “पुरातन भारतीय संस्कृति के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग  
असम्भव ही, वाहियात प्रतीत होगा।”

स्वतन्त्र भारत के शासन-विधान के अन्तिम विधेय के लिए विधान-  
परिषद् का महत्वपूर्ण अधिवेशन नई दिल्ली में हो रहा है। सदस्यों का  
बहुत भारी उत्तरदायित्व है। उन्हें भारत की भाषी संघानों के सम्बन्ध  
का निर्णय करना है। अन्य प्रश्नों के साथ यह भी निर्णय करना है कि  
यह स्वतन्त्र भारत के विधान का निर्माण भारत की संस्कृति की रक्षा  
पर करना चाहते हैं, या किसी भव-कल्पित मह-भूमि के घरातल पर।  
यदि वे प्राचीन के आधार पर अविश्व का निर्माण करना चाहते हैं,  
यदि वे देश की भारतीयता को जापूत करने वाले उन महापुरुषों के  
प्रयत्नों को व्यर्थ नहीं कर देना चाहते, तबमें, सबसे अन्तिम, परन्तु  
निर्णायक उम्मेद नाम महात्मा गांधी का है, तो उन्हें भवे विधान।  
निर्माण करते हुए यह ध्येय सामने रखना चाहिए कि स्वतन्त्र भारत  
विक शरीर में भारतीय संस्कृति की प्राणों का संवार होना रहे।

: १६ :

## भाषा : साहित्य : देश

( आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी )

माना कारणों से इस देश में और बाहर यह बार-बार विचारित किया जाता है ॥ इस महादेश में सैकड़ों भाषाएं प्रचलित हैं और इसीलिए इसमें अच्छावृत्ता या एकता की कल्पना नहीं की जा सकती । मैंने विदेशी भाषाओं के जानकारों और विदेश के माना देशों में भ्रमण कर चुकने वाले कई विद्वानों से सुना है कि तथाकथित एक राष्ट्र व स्वाधीन देशों में भी दुर्जनो भाषाएं हैं और भारतवर्ष की भाषा-समस्या उनकी तुलना में गगनचुम्ब है । परन्तु अन्य देशों में यह अवस्था हो या नहीं, इससे हमारी समस्या का समाधान नहीं हो जाता । यूरोप की भाँति में खराबी सिद्ध कर देने से हमारी भाँति में दृष्टि-शक्ति नहीं आ जायगी ! फिर भी मैं आपको समझ कराना चाहता हूँ कि हमारे इस देश ने हजारों वर्ष पहले से भाषा की समस्या हल कर ली थी । हिमालय से सेतुबन्ध तक, सारे भारतवर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है । यह भाषा संस्कृत थी । भारतवर्ष का जो कुछ रचनीय है वह इस भाषा के भण्डार में संचित किया गया है । जितनी दूर तक इतिहास हमें देखकर पीछे ले जा सकता है उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा और कोई सहारा नहीं है । इस भाषा में साहित्य की रचना

यः हजार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके  
के पठन-पाठन और चिन्तन ने भारतवर्ष के हजारों  
सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात खूब रहे हैं। और आज  
मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में इतने  
दूर तक स्पष्ट, इतने उत्तम मस्तिष्कों में विचार  
आया है या नहीं। शायद नहीं है।

यों के मुँह बराबर इस देश में आने रहे हैं और  
अबही सीख लिया है कि संस्कृत भाषा ही इस देश में  
आ ही सकती है। यह भारतवर्ष की बात कही जाती है  
का सबसे पुराना शिक्षा-क्षेत्र तो यह तक आया गया  
आला एक महाकाव्य हज्जामा का शिक्षा-क्षेत्र है जो  
अग केन्द्र-सी वर्ष बाद लुप्तवाया गया था। इस शिक्षा-  
का निराकरण कर दिया है कि जो ऐतिहासिक स्थितियों  
गया था कि संस्कृत का सम्बुधान बहुत शक्ति  
हो के हाथों हुआ है। हममें कोई संदेह नहीं कि तु  
से संस्कृत भाषा अपारा क्षेत्र से बच रही थी, यह  
गद्य बाल है कि उसने पहले उसकी (संस्कृत भाषा  
कदम बढ़ हो गई थी।

में सुमनमान बादशाह भी इस भाषा की महिमा बढ़ा  
थे। पदानों के विद्यो से मागरी अक्षरों का ही नहीं संस्कृत  
स्थिति मिद किया जा सकता है। परन्तु बाद में अक्षरों  
और अक्षरों और राज-कार्य की भाषा आगामी हो गई  
क बड़े समुदाय के भाषा कार्य से सुमनमानों वर्षों के  
र कक्षः एक बहुत बड़े समुदाय की वर्ष-भाषा जारी  
अक्षरों अक्षर-से-अक्षर आगामी सी वर्ष तक रही  
र भूक न जान कि इस समय भी भारतवर्ष की क्षेत्र  
संस्कृत के ॥ जाने बढ़ रहा था। भाषा उत्तम-व

की अनुदनीय टीकाएँ, धर्मशास्त्रीय व्यवस्था के विवन्ध-ग्रन्थ, दर्शन और अभ्यात्म विषयक अनुवाद और टीका-ग्रन्थ, और सबसे अधिक नग्न-न्याय और व्याख्यानप्राणित व्याख्यान शास्त्र इसी काख में बिले जाते रहे। हम युग में यद्यपि संस्कृति ग्रन्थों में से मौलिक चिन्ता बराबर घटती जा रही थी फिर भी वह एकदम लुप्त नहीं हो गई थी। कुछ शताब्दियों तक भारतवर्ष एक विचित्र अवस्था में से गुजरा है। उसके न्याय, राजनीति और व्यवहार की भाषा फारसी रही है, हृदय की भाषा उर्दू प्रदेशों की भाषाएँ रही हैं और मस्तिष्क की भाषा संस्कृत रही है। हृदय की भाषा बराबर किसी-न-किसी रूप में देशी भाषाएँ रही हैं। यह और बात है कि दूर पड़ जाने से पिछले हजारों वर्षों का देशी भाषा का साहित्य आज हम न पा सके, पर वह वर्तमान ज़रूर रहा है और उसका सम्मान भी हुआ है। मैं आज इस बात को चर्चा नहीं करूँगा। मैंने अन्वय सप्रमाण दिखाया है कि इस देश में सदा वाग्य बिले जाते रहे हैं। सिर्फ़ यही बात नहीं है बल्कि उनका भरपूर सम्मान भी बराबर होता रहा है।

एक बार मेरे इस कथन को संक्षेप में आप अपने सामने रखकर देखें तो हमारी वर्तमान भाषा-समस्या काफ़ी स्पष्ट हो जायगी। मैंने अब तक जो आपको प्राचीनकाल के सँदहरों में भटकवाया वह इसी उद्देश्य से। संक्षेप में इस प्रकार है कि—

- (१) भारतवर्ष के दर्शन-विज्ञान आदि की भाषा सदा संस्कृत रही है।
- (२) उसके धर्म-प्रचार की भाषा अधिकतर में संस्कृत रही है, यद्यपि बीच-बीच में साहित्य के रूप में और सदैव बोद्ध-वाक्य के रूप में देशी भाषाएँ भी इस प्रयोजन के लिए काम में आई जाती रही हैं।
- (३) आज से चार-पाँच-सी वर्ष पहले तक व्यवहार, न्याय और राजनीति की भाषा भी संस्कृत ही रही है। पिछले चार



भार नवीन युग शुरू होता है। जमाने के अनिवार्य तंत्राघात ने हमें एक दूसरे किनारे पर जाकर पटक दिया है। दुनिया बदल गई तथा और भी तेजी से बदलती जा रही है। अंग्रेजी-साम्राज्य ने हमारी सारी परंपरा को तोड़ दिया है। इन देर-सौ वर्षों में हम इतने बदल गए— सारी दुनिया ही इतनी बदल गई है कि पुराने जमाने का कोई पूर्वज हमें याद हो पहचान सकेगा। हमारी शिक्षा-दीक्षा से लेकर विचार-विचारों की भाषा भी विदेशी हो गई है। हमारे सुने हुए मनीषी अंग्रेजी भाषा में शिक्षा पाये हुए हैं, उसी में बोझते रहे हैं और उसी में लिखते रहे हैं। अंग्रेजी भाषा ने संस्कृत का सर्वाधिकार छीन लिया है। आज भारतीय विद्यार्थियों की जैसी विवेचना और विचार अंग्रेजी भाषा में है उसकी माथी चर्चा का भी दावा कोई भारतीय भाषा नहीं कर सकती। यह हमारी सबसे बड़ा पराजय है। राजनीतिक सत्ता के धिन जाने से हम इतने गलतस्थित नहीं हैं जितने कि अपने विचार की, उनके की, दर्शन की, अभ्यास की और सर्वस्व की भाषा के धिन जाने से। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हम अपनी ही विद्या को अपनी बोली में न कह सकने के उपहासस्पद अपराधी हैं। यह सत्ता हमारी जातीय अज्जा है। देश का स्वाभिमान ही इतना हल असह्य अवस्था को अधिक बढ़ाकर नहीं कर सकता।

अब हम संस्कृत की फिर से नहीं पा सकते। अगर बीच में ही अंग्रेजी ने चाकर हमारी परंपरा की जुरी तरह तोड़ न भी दिया होता तो भी आज हम संस्कृत को छोड़ने को बाध्य होते, क्योंकि वह जन-साधारण की भाषा नहीं हो सकती। जिन दिनों एक विशेष श्रेणी के लोग ही ज्ञान-चर्चा का भार स्वीकार करते थे, उन दिनों भी यह कठिन और दुःसह थी। परन्तु आज वह जमाना नहीं रहा। हम बदल गए हैं, हमारी दुनिया पलट गई है, हमारे पुराने विचारों का हिस्सा गए हैं, हमारी ऐहिकता बढ़ गई है और हमारे ये दिन अब हमेशा के लिए चले गए। भवभूति के राम की भाँति हम भी अब यह कहने को

चा है कि 'ते हि नो दिवसा गताः'—घबरे हमारे दिन नहीं

अफसोस करना बेकार है। 'हम जहाँ का पड़े हैं वहाँ से हमें शुरु करनी है। बाज़-धर्म हमें पीड़े नहीं खींचे देगा। हमें ने की और अपनी दुनिया को समझने में अपने हवातों वरों के हाल का अनुभव प्राप्त है। हम इस दुनिया में नये नहीं हैं, शक्ति नहीं है। अपने संस्कारों और अनुभवों के लिए हमें सब से हमें अपने को और अपनी दुनिया को समझने में सरागा लयेंगे। हमें बार रचना चाहिए कि अनुभव और संस्कार नहीं न होने हैं जब से हमें जाने देल मर्के, कर्मोलीन बना सकें। निहाने अनुभव उसे ला जाता है और संस्कार उसे और भी अपारिज देता है।

हमारा पुराना अनुभव बताया है कि हम आमेनु-दिमावत एक से एक संस्कार, एक विचार, एक मनोवृत्ति तैयार कर सकते हैं। यह एक भाषा संस्कृत है। हमारी नई परिस्थिति बता रही है स्त्रों की चर्चा से मुक्ति या परछोके बनाने भाषा आदर्श सब मदी गता। "एकः मन्व्यन् शब्दः शानः"—अर्थात् 'एक भी शब्द तोहि जान लिया जब तो स्वर्गकीक में भेद स्थान प्राप्त हो' का आदर्श हम काम में नहीं निक सकता। जब कि अनेक हवचरी और उन्दी-न-उन्दी की भाषना काम कर रही है। ऐसी भाषा चुन लेनी है जो हमारी हवातों वरों को परंपराओं के-रम विविध हो और हमारी मूल्य परिस्थिति का व्याख्या-वर्णिक सुझेरी से कर सकनी हो, संस्कृत न होकर भी ती हो और साथ ही जो अनेक भवे विचार की, अनेक वर्गों को समझा लेने में अद्भुत दिव्यविशाली न हो—जो प्राचीन की उपाधिविचारों भी और नवीन विचारों की उपाधिविचार

चूँकि वर्तमान युग में मनुष्यता की प्रधानता समान भाव से स्वीकार कर ली गई है, इसलिए उसी की दृष्टि में रखकर इस समस्या को भी हल किया जा सकता है। जिस प्रकार मनुष्य की कुविधा की दृष्टि से सदृज-सरज देखी भाषाओं की घोषाहित किया गया है। उसी प्रकार बृहत्तर देश के विराट मानव-समुदाय की दृष्टि में रखकर सामान्य भाषा की समस्या भी हल की जाती रही है। अविकीर्ण मनुष्य जिस भाषा में बोल सकते हों; अविकीर्ण मनुष्यों की भाषा के साथ जिस भाषा का अपेक्षित सम्बन्ध हो, वह भाषा क्या है? आपसे कहने की आवश्यकता नहीं। आपने अपने रंग से उसका उत्तर खोज लिया है।

मैं आपको संस्कृत की याद फिर दिखाता हूँ। हिन्दी या हिन्दुस्तानी हमारी अधिक जगहों की समझ में आने वाली अधिक प्रचलित भाषा जरूर है पर संस्कृत ने हमारे सर्व देश की भाषा पर जो अपना अनुसात्तीय (न हटाया जा सकने वाला) प्रभाव डाला है, वह कम नहीं है। हम हजार संस्कृत की परंपरा से प्युत हो गए हों और उस भाषा तथा उसके विशाल साहित्य को भूल गए हों; पर वह हमसे दूर नहीं हो सकती। हमने चाहे कमज़ी को छोड़ दिया हो, पर कमज़ी हमें नहीं छोड़ सकती। संस्कृत ने हममें अब भी चौदह आना पकड़ा कायम कर रखी है। नये सिरे से हमें दो आना ही प्रयत्न करना है। वस्तुतः हिन्दी और अन्यार्थ भारतीय भाषाओं में १४ आना ही साम्य है। दो आना ही हमें इसमें नये सिरे से गढ़ना है। यह आप कर रहे हैं।

मैं भाषा के संस्कृत बनाने की वकालत नहीं कर रहा ॥ मैं चाहता हूँ कि पिछले हजारों वर्षों के इतिहास ने हमें जो कुछ दिया है, उससे हम सबक सीखें। हमारा उत्पत्त्य यह नहीं है कि हम विदेशी शब्दों का बहिष्कार करें। मगर आपने इसका यह अर्थ समझा हो तो मैंने कहीं अपनी बात उपास्थित करने में गलती की होगी। मैं ऐसा कैसे



व्यवहार में आ सकता है जब कि हमारी अद्वैत संस्कृत भाषा ने ही विदेशी शब्दों को ग्रहण करने का रास्ता दिखाया है। हमारे संस्कृत-पाठिर में तीरा, मेष्काण, अपोनिष्ठम, पक्षर, कौर्ष्य, जूक, लेव, हेडि आदि शब्दों के अनेकों ग्रीक शब्दों से मिले हैं। ये ग्रीक शब्दों के संस्कृत रूप हैं, परन्तु संस्कृत में इन्होंने अधिक प्रचलित हो गए हैं कि कोई संस्कृत में पंडित इनकी शुद्धता में तनिक भी संदेह नहीं करता। कम-से-कम एक कोशी ( २० ) ग्रीक शब्दों में आपकी ऐसी संस्कृत में कि जिसका व्यवहार धर्म-शास्त्रीय व्यवस्था देने वाले ग्रन्थों में होता है। ज्योतिष-शास्त्र ( बर्षफल, मासफल आदि पढ़ाने वाला ज्योतिष-शास्त्र का एक शाखा ) के योगों के नाम में बीसियों अरबी शब्दों में मिलेंगे। ताजक-नीलकण्ठी ( एक ज्योतिष-ग्रन्थ ) से यदि मैं एक शब्द लूँ तो आप शायद समझेंगे कि मैं कुरान की आपन पढ़ाई कर रहा हूँ:—

‘थ्यल्लासरं रहमयो दुफालिः कुरथं तदुरथोत्थ दिवीर नामा ।’

मीर

‘स्यादिकयालः इशाराक योगः’—इत्यादि

यस (‘रमल’ नामक ज्योतिष विद्या) के ग्रन्थों में बीसियों (बीसों) अरबी शब्दों का शब्द व्यवहार हुआ है। एक श्लोक में ‘तारीय’ शब्द का ऐसा व्यवहार किया गया है जैसा वह पाणिनि का ही शब्द —‘तारीये च त्रिनये त्रयोदशे’ मुसलमान शब्द का ‘तुराय’ रूप संस्कृत के वाच्य-ग्रन्थों में ही नहीं मुसलमान बादशाहों के सिक्कों पर पाया जाता है। पुराणन प्रबन्ध-संग्रह में एक जगह समझि की नीति’ बनाकर ही प्रयोग नहीं किया गया है, अनुवाक के सारे में लकार “अरीनिर्ममिति” कहकर उसमें मुसलमान भी आई गई है, ही, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आप विदेशी शब्दों को निकालना नहीं करते। मुझे गर्व है कि आपने आज जिन भाषा की अपने लिए व्यवस्था की है, उसमें इतने शब्दों के रूप में भरपूर किया है, उसमें शब्दों के रूप में इतने

विदेशी शब्दों को हजम किया है कि वह संसार की समस्त विदेशी भाषाओं को पावन-शक्ति की प्रविद्धिन्दिता में पीके छोड़ गई है। प्रचलित शब्दों का त्याग करना मूर्खता है; पर मैं साथ ही जोर देकर कहता हूँ कि किसी विदेशी भाषा के शब्दों के आ जाने-भर से वह विदेशी भाषा संस्कृत के साथ बराबरी का दावा नहीं कर सकती। वह हमारे नवीन भावों के प्रकाशन के लिए संस्कृत के शब्दों को गड़ने से हमें नहीं रोक सकती। प्रचलित शब्दों को विदेशी कहकर त्याग देना मूर्खता है; पर किसी भाषा के शब्दों का प्रचलन देखकर अपनी हजारों वर्ष की इस परम्परा की उपेक्षा करना आत्म-घात है संस्कृत ने भिन्न भिन्न भाषाओं से हजारों शब्द लिये हैं, पर उन्हें संस्कृत बनाकर। हम अब भी विदेशी शब्दों को जें तो उन्हें भारतीय बनाकर हम देश के उच्चारण और वाक्य-रचना-परम्परा के अनुकूल बनाकर।

मगर यह तो मैं अवांछित बात कह गया। मैं मूल प्रश्न पर फिर आ रहा हूँ। इस युग का मुख्य उद्देश्य मनुष्य है। इस युग का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि विज्ञान की सहायता से जहाँ बाह्य भौगोलिक बंधन श्रद्धातट टूट गए हैं वहाँ मानसिक संकीर्णता दूर नहीं हुई है। हम एक दूसरे को पहचानते नहीं। कीजिए। ऐसा कीजिए कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को समझ सके। एक धर्म वाले दूसरे धर्म वाले की कद्र कर सकें। एक प्रदेशवाले दूसरे प्रदेशवाले के अन्तर में प्रवेश कर सकें। ऐसा कीजिए कि इस सामान्य माध्यम के द्वारा आप सारे देश-में एक भाषा, एक उमंग और एक उत्साह भर सकें। और फिर ऐसा कीजिए कि हम इस पावन भाषा के जरिये इस देश की, इस काल की और अन्य कालों की समूची ज्ञान-सम्पत्ति आपस में विनिमय कर सकें।



## भाषा की एकता

( आचार्य चिन्मोहन सेन )

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के हेतु अनेक अनुष्ठान हुए। और उनको मैं संस्कृति का राजसूय-यज्ञ समझता हूँ। राजसूय-यज्ञ में नाना प्रदेश से नाना भौति का उपहार आना आवश्यक होगा है। इसके बिना राजसूय-यज्ञ नहीं हो सकता। परियाम स्वरूप कर्नाटक, महाराष्ट्र, कोंकण, गुजरात, मलबार, उत्तर-भारत आदि नाना प्रदेशों के सुधीन इसके लिए त्याग व परिश्रम कर रहे हैं। परन्तु इस त्याग की अपनाने का पात्र कहाँ है ? इस सांस्कृतिक त्याग का पात्र है भाषा। सब ही उसी वाङ्मय-पात्र की रचना में दृष्ट-बिस्त है। बिना इस वाङ्मय-पात्र के राजसूय संकल नहीं होगा। आदर्श और साधना की एकता मनुष्य की एकता जरूर देती है; परन्तु भाषा की मिन्नता मनुष्य की इस एकता को जाग्रत नहीं होने देती। यूरोपीय प्राचीन कथा में सुना जाता है कि भाषा की मिन्नता के कारण ही 'टावर ऑफ बैबल' टूट पड़ा था, और वही मनुष्य, जो इस महती साधना के लिए दिन-रात एक कर रहे थे, भाषा की मिन्नता के कारण आपस में ही लड़ने लगे थे और उन्होंने अपनी ही निर्माण की हुई वस्तु को स्वयं ही गिरा दिया था।

किन्तु भाषा यद्यपि एकता का प्रधान वाहन है, परन्तु वही एक

मात्र देश-विधायक उपादान नहीं है। और भी वस्तुएँ हैं जो एकता को बनाये रखने में या नष्ट कर देने में मददपूर्ण भाग लेती हैं। इतिहास में एक भाषा-भाषी लोगों का भगदना दुर्लभ घटना नहीं है। अमेरिका और इंग्लैंड में जो लड़ाई हुई थी वह भी एक ही भाषा के होते हुए भी। महाभारत की लड़ाई क्या भिन्न भाषा-भाषियों में हुई थी ? हमें भाषा की साधना करते समय इन अन्य मददपूर्ण वस्तुओं की भूल नहीं जाना चाहिए। आज अगर आप सुजी नहरों से देखें तो आपको इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जायगा कि एक भाषा की आवाज़ उठाते हुए भी हममें प्रादेशिकता और साम्प्रदायिकता प्रवेश कर रही है और दिन-दूनी रात-बोलुनी बढ़ भी रही है। क्योंकि भाषा ही एक-मात्र एकता का हेतु नहीं है, और भी बहुत-सी बातें हैं। उनकी श्रेष्ठा करने से हम 'एक भाषा' की प्रतिष्ठा करने में भी पद-पद पर ध्यान भंगुमत्त करेंगे। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा एक प्रधान और महत्वपूर्ण सेतु है। भाषा की सहायता के बिना हम अपने अत्यन्त निकटस्थ व्यक्ति की भी नहीं पुछा सकते।

सभ्यताओं के इतिहास के अध्ययनों ने ज्ञाप्य किया है कि प्रायः प्रत्येक प्राचीन सभ्यता एक-एक नदी को आश्रय करके विकसित हुई है। डीक भी है। नदी अपने प्रवाह से नाना प्रदेशों को युक्त करती है किन्तु भाषा और भी अवर्द्धत योग-विधायक है। नदी तो केवल बाढ़ सभ्यता के विकास में सहायता पहुँचाती है, परन्तु भाषा जो जीवन्त प्रवाह है जो अन्तर-अन्तर में योग-स्थापन करती है। यहाँ भाषा से मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि जिस किसी ज़माने की भाषा या जिस किसी देश की भाषा योग-स्थापन का कार्य करती है, नहीं, योग-विधा-यिनी भाषा बही हो सकती है जो संप्रसाधारण को अपनी हो, अपने काँव को और अपने देश की। कबीरदास ने भाषा अर्थात् बोली जाने वाली भाषा की इसीलिए 'बहते बीर' से उपमा दी है और संस्कृत की 'रूप जल' से—

‘संस्कृत कूप जल कयीरा, भाषा बहता नीर’

आज हम केवल राजनीतिक दस्तता के बन्धन से ही जकड़े-सी बात नहीं है। इससे भी भयंकर बन्धन हमारे अपने तैयार हैं जो भीतर के भी हैं, बाहर के भी। हमें उन सबसे मुक्त होना पड़ेगा। हमें इस मुक्ति के लिए हमें उपयुक्त तीर्थ-स्थान खोज निकालना होगा। जहाँ दो नदियों का समागम होता है वह संगम-क्षेत्र हमारे बहुत पवित्र माना जाता है; जहाँ चौर भी अधिक नदियों का संगम होता है वह तीर्थ चौर भी भेद होता है। तीन नदियों के संगम से प्रसिद्ध का माहात्म्य होता अधिक है कि वह तीर्थराज कहलाता है। काशी छोटे-छोटे नालों के संगम का भी जहाँ अधिक समानता हुआ है, पवित्र पर्वगंगा घाट को आरोप-पुण्यदाता माना गया है। अपनी मुक्ति के लिए भी हमें साधनाओं और संगम का तट ही निकालना होगा। भाषा की केवल भाषा मानकर हम गुप्त नहीं रह सकते। हमें उन मंरूतियों, विद्याओं और कलाओं का महान् संगम-तीर्थ बना देना होगा। अंग्रेजी भाषा की महिमा हमें भ्रष्ट नहीं है कि वह हमारे मातृभाषा की भाषा थी, वह कि हमें भ्रष्ट कि उसने नैसा की समस्त विद्याओं को धातुमान् किया है। अंग्रेज बने गए हैं फिर भी अंग्रेजी का चार देवा ही बना रहेगा। हिन्दी को भी बड़ी होना है। हमें भी नाला मंरूतियों, विद्याओं और कलाओं की त्रिणी बनना होगा। बिना देवा बने भाषा की साधना अपूरी रह जायगी। आज लोग जो आज हम साधना के लिए लगी हुए हैं, वह बाग न मूर्छें। भाषा हमारे लिए साधन है, साधन नहीं, साधन है, साधन नहीं, साधन है, साधन नहीं।

पुनरावृत्ति को बोलना सहज नहीं है। कभी-कभी वह भाषा बच-बच भाषा करके हमारे बीच बनी रहती है। और कभी हम इस-उस भाषा के जोशों की पुनरावृत्ति दूर करने का अभिमान करते हैं, फिर

भी यह हमारे पीछे जगी ही रहती है। कभी-कभी हम देव की पूजा न करके देहर (मूर्ति के घर) की पूजा करने लगते हैं। आयेब को भुलकर आचार की पूजा कुछ ऐसी ही है। जितना बड़ा भी प्रेमी हो, वह यदि शीघ्र एक झिप्पाफा भेजे, बिट्टी नहीं, तो प्रेमिका का धैर्य कब तक रिकारह सकता है ? और फिर यदि वह झिप्पाफा बैरिंग हो तब तो कहना हो क्या है ? कब तक कोई सिर्फ इस बात से सन्तोष कर सकता है कि झिप्पाफा प्यारे के हाथ का भेजा हुआ है ! कुछ पत्र भी तो हो कुछ समाचार, कुछ प्रेम-सम्भावना, कुछ बड़े जानकारी। भाषा महज एक झिप्पाफा है। तो भी बैरिंग, क्योंकि इसे पाने के लिए परिश्रम खर्च करना पड़ता है। उसमें का पत्र और उसमें लिखा हुआ साहित्य, विज्ञान सम्बन्धी सत्य है। हमें झिप्पाफे का ध्यान भी जरूर रखना चाहिए, क्योंकि बड़ी प्रेम-पत्र को सुरक्षित रूप से पहुँचाया है पर पत्र की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आज की सचने बड़ी आवश्यकता है कि हम हिन्दी-भाषा को माना काष्ठों और विद्याओं से भर दें।

एक तरह के लोग जो उन्हीं बातों में सरन का सरन अनुभव करते हैं, जो मुरार-काष्ठ में कड़ी गई ली—इन्हें सजावटी कहते हैं। एक और तरह के लोग हैं जो दूर देश में कड़ी गई बातों को ही सामायिक मानते हैं—इन्हें क्या कहने हैं, मायूम नहीं। पर ये दोनों हैं—एक ही जाति के। एक काष्ठ-गत सजावटी है, दूसरे देश-गत। परन्तु साथ बस्तुतः सब काष्ठ का है और सब देश का। हमें प्रिये जो जिस भद्रा का पात्र है, वह स्वदेशी हो या विदेशी, आज का हो या प्राचीन काष्ठ का, हमें उसे वह भद्रा देनी ही चाहिए। हमसे जहाँ अनुदान में हमें प्राचीन और नवीन, इस देश की और अन्य देश की समस्त विद्याओं को निःसंकोच स्वीकार करना होगा। तभी हम उसे प्रदत्त बना सकेंगे। यदि वहाँ हमने किसी प्रकार की स्थान-गत या काष्ठ-गत में कीचट को मन में धारे दिया तो यद्यपि हम कुछ लोगों से बहाराही या सकेंगे, परन्तु वह सांस्कृतिक अक्षय-वात ही भिन्न होगा। देना देना मना है

कि रूप्पी के नाना भौति के आत्म-धारों में बाह्यवादी भी मित्रता है परन्तु अन्ततोगत्या आत्म-धारा—आत्म-धारा ही है।

आपको शायद आश्चर्य हो रहा होगा मैं ऐसी ऐसी प्रश्न बात क्यों कह रहा हूँ। कह तो रहा हूँ, परन्तु मानसिक दुःख से। हम मुँह में जितना भी 'स्वाधीनता' आदि नाम क्यों न लें, भीतर से हमारे अन्दर आदिम युग की तानाशाही—पूजा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इसीलिए हम किसी विरोध काज या विरोध देश को अपना डिप्टेटर मान लेते हैं और उसकी पूजा करने लगते हैं। जब हम युग में मैं मनु की व्यवस्थाओं को शासन करते देखता हूँ, या हम देश में यूरोप के आदरों को पूजा होते देखता हूँ, तो बरबस मुझे वह बात याद आ जाती है। इसीलिए कहता हूँ कि हिन्दी-भाषा में त्रिप साहित्य का हम निर्माण करें उसमें हम विरोध पूजा के अन्वयात् न हो जायें। आप मुझे गुलत न समझें। मैं न तो मनु का ही कर्म आदर करता हूँ, और न यूरोपीय आदरों का ही। मेरा विरोध किसी बात को एक-मात्र प्रमाण मान लेने से है।

बहुत-से लोगों की भौति में वह नहीं मानता कि समस्त काज और समस्त देश के साथ हम समान मात्र से साम्य की रक्षा नहीं कर सकते। एक सामूहिक अतिवृद्धि बालिका भी एक ही साथ अपने पिता के प्रति आदर भाव रख सकती है और साथ ही अपने पति के प्रति भी। पिता के प्रति आदर और प्रेम होना किसी प्रकार उसके पति-प्रेम में बाधक नहीं होता और न वे दोनों बातें उसके भावी पुत्र-प्रेम में विघ्न-रूप हो उठती हैं। एक सामान्य बालिका भी आप्तानी से अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रति अपना कर्तव्य निबाह से खाती है। वनस्पति के बीज को देखिए। कितनी पीढ़ियों की परम्परा लेकर वह आया है और भविष्य में भी न जाने कितनी परम्पराओं को वह उत्पन्न करेगा। यह गुलत बात है कि हम सर्व देश और सर्व काज के प्रति अरुण कर्तव्य पात्रन नहीं कर सकते।

यह मानव-मानव के प्रति जो योग है वह इतनी बड़ी चीज़ है कि मनुष्य ने अपनी इस सर्वोत्तम साधना का नाम ही दिया है—साहित्य (सहित का भाव)। यह साहित्य की मुख्य वस्तु है। भाषा तो उसका आधार-पात्र भर ही है। इसी भाषा और साहित्य के बल पर मनुष्य ज्ञान, कर्म और संस्कृति में पशु को बहुत पीछे छोड़ गया है। क्योंकि इसी के द्वारा उसका योग समस्त काल और समस्त देश से स्थापित हो सका है। भाषा और साहित्य को स्वीकार न करना उस महान् योग को ही अस्वीकार करना है। इतना बड़ा अस्म-पात्र विद्रोह और कुछ नहीं है।

हमारे गृहस्थ जीवन में योग-साधन का कार्य करती है भाषा, उसी प्रकार जिस तरह गृह-परिवार के जीवन माता में योग-स्थापन करती है। क्योंकि बच्चों में आपसी झगड़े-दंटे कितने भी क्यों न हों, वे स्नेहमयी माँ की गोद में बैठकर सभी द्वन्द्व और झगड़े भूल जाते हैं। जिस प्रकार सच्ची माता सन्तानों के भेद-विभेद बिना रह किये नहीं रह सकती, उसी प्रकार सच्ची भाषा और सच्चा साहित्य भी अपनी सन्तान का भेद-विभेद दूर किये बिना नहीं रह सकता। भाषा और साहित्य का स्थान भी माता का-सा ही है।

चाप कहेंगे कि माता भी कभी मिथ्या होती है ? माँ तो सदा सच्ची ही होती है। हमारे देश में जिस भाषा को माता कहा गया है, उस, मातृ-भाषा की गोद में ही तो हम सबने जन्म लिया है। कभी माता ने हमारे चिन्मय स्वरूप की सृष्टि की है। वह माता मिथ्या कैसे हो सकती है ? वस्तुतः जब वह माता हमारे चिन्मय स्वरूप की सृष्टि करती रहती है तब सच्ची ॥ होती है, किन्तु जब हम उस माता को सृष्टि करने का ध्यान करने समर्थ हैं तो वह निरक्षय हो मिथ्या हो उठती है। माता को सन्तान मानाविष अलंकारों और महनीय वस्त्रों से अलंकृत करें—यह तो उचित है; बरिक्त सन्तान का यह कर्तव्य ॥ है कि माता को अधिकाधिक सन्दर्भ और श्रुत करण



रहे पर हाथ बट माता को ही बनाने लगे, वह तो पुरुषम समझ में आने वाली बात नहीं है । हम माताहारी भाषा को चनेक भाषों से—कला-शास्त्र-विज्ञान-से—समृद्ध और अर्जुन करवाने दे र-उगे काट-काँट, गड़-घोत्र का बड़ माता बनाने का प्रयत्न करना निगल दम-मात्र है ।

हिन्दु हमने माता को मिथ्या बनाना शुरू कर दिया है । प्रमत्त वह है कि हम मुँह में तो पुरुष ही भाषा की बात करने जा रहे हैं; परन्तु वस्तुतः हमारे भीतर के माता प्रकाश के भेद-भिन्न, माधुर्य-विज्ञा, प्रादेशिकता आदि बढ़ने ही जा रहे हैं । क्या हमें पूनरुद्देश देने की जरूरत नहीं है कि हमने माता को काट-काँट का गलत और निर्भीक मूर्ति बनाने की कोशिश तो नहीं शुरू की है ? घर-परिवार को दिये हुए पारल की पोषण को चाहे जितना ही दूध कटकर विज्ञापित किया गया हो, उससे उनका बल-वीर्य नहीं बढ़ सका, बीड़, उसी प्रकार गलत वस्तु को जितने जोर से भी सही कहकर क्यों न विज्ञापित किया जाय, उससे हमारी शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होगी । सच्ची माता की मूर्ति तो नहीं की जा सकती पर उसे ध्यान दिया जा सकता है । कभी हमने इतिहास-पुराण में यह नहीं सुना कि किसी ने माता की मूर्ति की थी, परन्तु परशुराम की मातृ-हत्या प्रसिद्ध क्या है । हम भूल न आर्य कि मातृ-हत्या के अपराध में परशुराम को कितना बड़ा दण्ड आजीवन भोगना पड़ा था । एक बार जो कुठार उनके हाथ में लम गया सो जमा ही रह गया, उसे कोई भी हटा न सका । पिता की आज्ञा की दुहाई देने पर भी उनकी इस दण्ड से—इस वेदम्बना से—मुक्ति नहीं हुई । कुठार-वस्तुतः नाश का प्रतीक है । यदि हमने आज विचार से ही आत्मन किया तो निश्चित मानिए, वह वस्त्र हमारे हाथ से छूटेगा नहीं; हम कभी भी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकेंगे । माता को यदि हम जीवित समझें तो क्या कभी भी उसके अंगवस्त्र की बात हम सोच सकते हैं ? एक-मुत्री मर्यादा ने

जब दक्ष-यज्ञ में पति का अपमान देखकर यशस्वती में प्राण दे दिये थे तब नारायण ने उनके शव को चन्द्र से २१ टुकड़ों में विभक्त कर दिया। ये ही २१ खण्ड इक्ष्वाकुन स्थानों में गिरे थे और इसविष्ट तांत्रिकों के २१ पीठ हैं। तांत्रिक योगियों का कहना है कि जो इन इक्ष्वाकुन पीठों की स्थापना एकत्र कर सकता है, उसी की कुञ्ज-कुण्ड-जिनी-शक्ति जागृत होती है।

जोड़-बाँटकर नारी की सृष्टि की कथा हमारे पुराणों में एकदम नहीं हो, सो बात नहीं है। परन्तु इस प्रकार जोड़ी हुई प्रतिमा में मातृत्व की कल्पना ही नहीं की गई। स्वर्ग की अप्सरा विद्योत्तमा ऐसी ही नारी है। इसका काम या सबका चित्त हरण करना, मातृत्व नहीं। परन्तु पुराण साक्षी है कि वह वस्तुतः किसी का भी चित्त हरण नहीं कर सकी; बल्कि एक विनाशक शक्ति के रूप में ही प्रसिद्ध हो गई। भाषा को जोड़-बाँटकर मड़ने के पक्षपाती लोग इस कथा को बाद रखें तो अच्छा हो। मैं चाहता हूँ कि पठक माता के इस योगेश्वरी स्वरूप के ही आराधक हों। मैं चाहता हूँ कि समस्त भारत भाषा के इसी योगेश्वरी स्वरूप की स्थापना का प्रयत्न हो।



: २१ :

## भाषा के क्षेत्र में भी पाकिस्तान ( श्री कमलापति त्रिपाठी )

मैं समझता हूँ कि भारत की राष्ट्र-भाषा तो वह भाषा बनेगी, जो राष्ट्र के सहस्राब्दियों के संस्कार, उसके इतिहास की प्रशस्ति, उसकी परम्परा, उसकी दृष्टि, उसकी प्रतिभा और उसकी आत्मा की सृजापन बन कर आविर्भूत होगी। आज कोई राजनीतिक नेता भयंकर कोई राज-भौतिक मंस्था राष्ट्र-भाषा का निर्माण नहीं कर सकती। मैं समझता हूँ कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उठाकर स्वयं व्याप्त उत्पन्न किया जा रहा है और भाषा के क्षेत्र में भी पाकिस्तान बनाने का प्रयास हो रहा है। मैं देखता हूँ कि समस्या सुलझाने की अपेक्षा बिगड़ती ही बड़ी जा रही है। मेरा तो यह निवेदन है कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न आज धोव दिया जाए। मैं यह दावा नहीं करना चाहता हूँ कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा बना दी जाए। मैं केवल यह कहता हूँ कि सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन में भाषा की आनेक भाषा की अपनी प्रतिभा और उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयास होना चाहिए और देखिए कि राष्ट्रीयता तथा नवभारत की आवश्यकता को पूरा करने में कौन समर्थ होती है ? यद्यपि मेरा यह विचार है कि राष्ट्र-भाषा एक-मात्र हिन्दी में है, और यदि उसका अपायोपचर किया जाए और स्वयं के व्यापक न उत्पन्न किये जाएं, तो राष्ट्रीय पर राष्ट्र-भाषा के क्षेत्र में हमारी प्रतिष्ठा निश्चित है, यद्यपि मैं यह दावा नहीं करना कि आज कोई प्रधानमंत्री...

... उसे राष्ट्र-भाषा घोषित किया जाय। बाहरी अथवा  
माननी सहायता तो उन्हें चाहिए, जिनमें स्वयं बल न हो।

हम समझते हैं कि हिन्दुस्तानी का नाम भी वे ही लेते हैं, जो अपने पैर के नीचे की धरती खिसकती पाते हैं, हिन्दी के वेग से भयभीत होते हैं। फलतः मैं यही आग्रह करता हूँ कि राष्ट्र-भाषा के नाम पर हिन्दुस्तानी अथवा किसी भी भाषा का नाम न लीजिए। हिन्दी को तथा अन्य समस्त भाषाओं को फलने-फूलने दीजिए, अपने पथ पर चले दीजिए और छोड़ दीजिए उन्हें कि वे जब अपने बलपर अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करें। समय आयागा, राष्ट्र स्वतः उस भाषा का प्रयोग करता दिखाई पड़ेगा, जिसमें उसकी आत्मा व्यक्त होती रहेगी और वही राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण करेगी।

मैं तो अब तक यह समझ ही न पाया कि हिन्दुस्तानी कौन-सी भाषा है और उसका स्वरूप क्या है। हिन्दी मैं समझ पाता हूँ; उर्दू भी मेरी समझ में आती है। हिन्दी अपना विकास करे और उर्दू अपना रूप सँवारे। दोनों अपने पथ पर चली चली और फलने-फूलें। मुझे न उसके पारस्परिक मनो-माझिम्ब की आवश्यकता प्रतीत होती है, न विरोध की। कोई भी साहित्य-प्रेमी उर्दू का विरोध नहीं कर सकता।...पर, यह 'हिन्दुस्तानी' कहाँ से आई और क्या है, वह समझना मेरे लिए कठिन हो गया है। मैं उन लोगों में हूँ, जो यह समझते हैं कि भाषा का स्वरूप बिगाड़ना स्वयं अपने को विद्वत् करना है। भाषा के साथ व्यवहार जीवन को सह कर देने के समान समझा है। हिन्दुस्तानी का अर्थ यदि यह है कि उर्दू भी सह हो जाय और हिन्दी भी चौपट हो जाय, तो मुझे ऐसी भाषा नहीं चाहिए। मैं समझता हूँ कि कोई भी—चाहे वह हिन्दी-प्रेमी हो, चाहे उर्दू-प्रेमी—यह स्वीकार न करेगा कि उसका स्थान किसी ऐसी आरज भाषा को दिया जाय, जो दोनों का सम्मिलन करके स्वयं प्रतिष्ठित हो जाय।

: २२ :

## हमारी राष्ट्र-भाषा का स्वरूप

( डाक्टर उदयनाथयण तिवारी )

राष्ट्र-भाषा का अर्थ निम्नलिखित तीन-बाझों में से हमारे सामने  
 रहा है । स्वतन्त्रता-प्राप्ति की लड़ाई के दिनों में भी उतनी ही हम  
 चिन्तित थे, पर हमारा मुख्य ध्यान राजनीतिक स्वतन्त्रता की ओर था  
 और वह हीय बना था, क्योंकि यह प्रश्नों के मूख में राजनीतिक पर-  
 मत्तता की भावना हमारे मन में थी । आज हम स्वतन्त्र हो गए हैं  
 और एक ऐसे स्वतन्त्र देश के विप, जिसे हम गौरवमय अपनी महान्  
 एवं उन्नत मण्डल के साथ मिलकर पूर्णतः वर्तमान को समेटने का  
 दा है, एक अपनी राष्ट्र-भाषा का होना बहुत आवश्यक है । अब जब  
 तो राष्ट्र-भाषा का निर्णय मुगल हो जाना चाहिए । निम्नलिखित -  
 में दिखी एवं भाषा की ओर उन्नति हुई है, वही उन्नत राष्ट्र-भा-  
 एवं राष्ट्र-सिद्धि होने की योग्यता का प्रमाण है । आज हमें ओ स्वतन्त्र  
 लोकतन्त्रिता प्राप्त हुई है वह दिखी साम्य-तन्त्रता का अविच्छाद से कई  
 अनुभव हमें अनुभव दुनों में ओ साम्य अपनी ओर राष्ट्र के हृदय की  
 लीन होने है । अब तो वह निर्दिष्ट निश्च हो गया है कि जन-जीवन  
 के हरि में तथा साम्य-संस्था के हरि में कोई भी भाषा दिखी  
 सामने राष्ट्र-भाषा वह का समझ नहीं कर सकती ।

उसका कोई स्वरूप ही निश्चित नहीं हो सका है। यह कहीं एक रूप में है, वो कहीं दूसरे रूप में। सच तो यह है कि भाषा के सम्बन्ध में पर नाम बहुत ही भ्रमक और अनुपयुक्त है। सर्व-साधारण जनता रीतियों में इसका स्वरूप उन्हीं से ग्रहण करती है। चरको-कारमो से लड़ी उन्हीं को राजनीतिक चाब से हिन्दुस्तानी कहकर सब तक अखिल-भारतीय रीतियों ने हिन्दुस्तानी का जो स्वरूप सामने रखा है, उसे देखते हुए हमके विरा कुछ दूसरा नहीं कहा जा सकता। हिन्दी और उन्हीं दो रूपों भाषा-कौशियों के लिए भी इसका प्रयोग हमारे सामने है। मुक्त-राष्ट्रीय सरकार द्वारा संस्थापित प्रयोग की 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' नाम की संस्था ही इसका प्रमाण है। वहीं पर हिन्दी और उन्हीं दोनों के रूप-रूप अस्तित्व को स्वीकार करते हुए दोनों में सम्मिश्रित नाम के रूप में इसका व्यवहार आज भी हो रहा है। महात्मा जी के कथनानुसार हिन्दी और उन्हीं के 'ब्राह्मण्डम' शब्दों से बनी हुई लिखनी भाषा, जिसमें अभी तक कोई साहित्य नहीं बन सका है, हिन्दुस्तानी है। वस्तु-स्थिति यह है कि अभी तक ऐसी कोई भाषा उत्पन्न नहीं हो सकी है जिसकी निर्भांश रूप से सर्वत्र हिन्दुस्तानी कहा जाय। राष्ट्र-भाषा के सम्मानित पद पर ऐसी भ्रान्त-स्वरूप तथा विरादार भाषा को प्रतिष्ठापित करना वस्तुतः राष्ट्र की उन्नति में बाधा उपस्थित करना है। इसी भी दृष्टि से, क्या साहित्य क्या स्वरूप, हिन्दुस्तानी इस पद पर नहीं बैठाई जा सकती। यदि बैठाई गई तो सचमुच 'दोन इजादी' की भाँति वह भी इतिहास के पन्नों पर रहेगी। एक स्वतन्त्र देश की जनता को अपनी राष्ट्र-भाषा एवं राष्ट्र-लिपि की परख दे। वह अपने-आप उसका वरण कर लेगी। इतिहास साक्षी है कि राज्याभय द्वारा परिपोषित ऐसी सारी मानवार्थ, जो राष्ट्र के हृदय में स्थान नहीं बना सकती, कभी अधिक दिनों तक ठहर नहीं सकतीं।

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने के विरोध में आज सबसे बड़ा 'ध्यान मगलमार्गों का रस्ता जाता है। पर हम यह भूल जाते हैं कि यह

## राष्ट्र-भाषा—हिन्दी

घोटा-भा मुन्दर नाम उन्हीं के पूर्वजों का रिषा हुआ है। मान उज्जयिनी स्वरूप एवं गौरवमय मण्डप में उनके पूर्वज कबीर, रहीम, रामान आदि का दिनना हाथ रहा है, हमें क आवश्यकता नहीं है।

यदि हिन्दी के स्वरूप से हिन्दी को जित है तो यह जा चाहिए कि राष्ट्र-भाषा हो जाने से हिन्दी के वर्तमान स्वरूप में शक परिवर्तन होंगे। मेरा ऐसा विचार है कि राष्ट्र-भाषा ऐसी चाहिए, जिसमें सर्वसाधारण जनता समझ सके। आज ऐसा हो भी है। मरल हिन्दी में जो भाषण दिये जाते हैं उन्हें उच्चरी भारत भिन्न-भिन्न ग्रामीण बोलियों को बोलने वाली निरक्षर जनता भी समझती है। हिन्दी बंगाला, चम्पामी, उड़ीया, मराठी, गुजराती, मलयालम, कन्नड़, तमिल, तेलगू आदि भाषाओं अथवा वहाँ की बोलियों को समझने वाली जनता के सामने संस्कृत-गमित हिन्दी बोलने से ही काम चलेगा। इसका कारण यह है कि भाषार्थ दो प्रकार की होती है एक Borrowing अर्थात् उधार लेने वाली तथा दूसरी Building अर्थात् अपने शब्दों आदि से ही शब्दों का निर्माण करने वाली। पारंपार्य देशों में अंग्रेजी पहली प्रकार की भाषा है और जर्मनी तथा उड़ीया आदि की भी प्रकृति है, जिसमें लगभग २० प्रतिशत शब्द संस्कृत से उधार लिये जाने हैं। हिन्दी अपने शब्दों से स्वयं शब्दों का निर्माण करती है। इसी कारण से उच्चरी भारत में सर्वत्र सरल हिन्दी तथा अन्य स्थानों में संस्कृत-गमित हिन्दी की आवश्यकता है।

कुछ लोगों का ध्यान है कि ग्रामीण बोलियों में संस्कृत शब्दों का अभाव है। यह भ्रमक है। इसके विपरीत कुछ लोग यह समझते हैं ग्रामीण बोलियों में अरबो-फारसी शब्दों की भारमार है, लेकिन वहाँ देश में मुसलमानी शासन होने के कारण यह समझना कुछ भ्रम-

युक्त हो सकता है, पर स्थिति इसके ठीक विपरीत है। श्री ज्ञानेश मोहन दास के बंगला अभिमान में जगमग एक लाख शब्द हैं, जिसमें केवल दस हजार शब्द अरबी-फारसी के हैं। इससे अधिक अरबी-फारसी के शब्द बंगला में उधार लिये हुए नहीं हैं। उदिया लक्ष्मणसमिधा की भी यही दशा है। उत्तरी भारत की प्रामोद्य बोलियों को कहीं भी तीन प्रतिशत से अधिक अरबी-फारसी के शब्द नहीं हैं। उत्तरी भारत में सर्वत्र समान रूप से प्रचलित एवं लोकप्रिय अरबी-फारसी के शब्द हैं, जिसे हिन्दू मुसलमान सब गाते और सुनते हैं, एक प्रतिशत से अधिक अरबी-फारसी के शब्द नहीं हैं।

ऐसी स्थिति में संस्कृत-प्रभित हिन्दी को खोदकर अरबी-फारसी खड़ी या कृत्रिम सिन्धवी हिन्दुस्तानी कभी राष्ट्र-भाषा के पद पर नहीं प्रतिष्ठित की जा सकती। अब रही लिपि की बात। किसी भी भाषा के साथ उसकी लिपि की एकता का प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है। अपनी राष्ट्र-भाषा के लिए विदेशी लिपि का अपनाना अपनी ही भाषा का घोटक है। राष्ट्र की चेतना के विकास में यह प्रयुक्ति बाधक होगी। रोमन लिपि की कठिनाइयों संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्दों के लिए और भी बढ़ जायेंगी। फारसी-जैसी दुर्गम लिपि को, जिसके लक्षण मुसलमानों ने अपने वहाँ से अलग कर दिया है, राष्ट्र-लिपि का पद नहीं दिया जा सकता। नागरी ही इसके सर्वथा अनुसृत है। संसार के सुप्रसिद्ध भाषा-तत्त्वज्ञानियों ने भी नागरी की मदद स्वीकार की है। भारत ही की नहीं, सिंधु, पर्मा तथा स्वाम को लिपियों में नागरी लिपि पर आधारित है। सारे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँध कराने की समता अकेली उसी लिपि में है, क्योंकि सारे देश की लिपियाँ अधिकांशतः इसी से पैदा हुई हैं। टाइपराइटर और प्रेस की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर देवनागरी लिपि में कुछ परिवर्तनों के करने पर वे सारे गुण आ जायेंगे जो रोमन लिपि में उसके प्रशंसकों को प्राप्त दिखाने पड़ते हैं।



## राष्ट्र-भाषा—हिन्दी

हम प्रकाश देना चाहती हैं किसी दूर संस्कृत-प्रतिष्ठित हिन्दी ही हमारे मातृ-संस्कृत राष्ट्र की राष्ट्र-भाषा होने की समझ बननी है। वैज्ञानिक एवं पारिवारिक शास्त्राचार का निर्माण इसी में हो सकता है, किसी एक भाषा में नहीं। संघेजी के पारिवारिक शास्त्रों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति हमारी मानसिक गुणवत्ता का लक्षण है। स्वतन्त्र राष्ट्र की योजना एवं विकास में हमने बड़ी बाधा पड़ी है। ऐसा हीन-जात कारण है जिसने सर्वगुण-व्यवस्था अपनी भाषा की शब्दावली, शब्दों का प्रयोग की शक्ति में। संघेजों के साथ हमें उसे भी विद्वत् देनी है। आज जबकि हम सिवा का मान्यम हिन्दी द्वारा कहाने जा रहे हैं और संघेजी के स्थान पर हिन्दी को पदाधीन करने जा रहे हैं तो देखो स्थिति में संघेजी की पारिवारिक शास्त्राचार का क्या प्रयोजन है, जब कि हमारे संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का व्यापक शब्द-प्रयोग संसार के समस्त विषयों की अपने में समाविष्ट करने में सक्षम है।

इस लोग प्रांतीय बोलियों अपनी भाषाओं के विकास में हिन्दी को बाधक समझ कर उसका विरोध करना चाहते हैं, उनसे हमारा अनुरोध निवेदन है कि इन प्रांतीय बोलियों अपनी भाषाओं के साथ ही का व्यवहार छोटी बहन जैसा है। बड़ी बहन कमो अपनी छोटी बहन की अपेक्षा करना नहीं चाहेंगी। इसका संघर्ष केवल संघेजी के ही है। यह उसी पद पर आसीन होगी जिस पर अब तक संघेजी अपनी-अपनी सीमाओं में प्रांतीय बोलियों और भाषाओं का स्थान रख भी रहा रहेगा जो अतीत में था। हिन्दी उनकी समृद्धि में बाधक बनेगी, बाधक नहीं। उनसे वह आदान-प्रदान संघर्ष नहीं। सम्मेलन सदा से सरल हिन्दी के पक्ष में रहा है। तो भी भाषा के शब्द का हिन्दी में आने से बहिष्कार नहीं यह तो सम्मेलन के विरुद्ध हिन्दी-विरोधियों का प्रचार है।

: २३ :

## राष्ट्र-भाषा की उलझन

( श्री चन्द्रबली पाण्डे )

स्वतन्त्रता की प्राप्ति और पाकिस्तान के निर्माण से हमारे देश की जो स्थिति बद्रख गई है, उसके साथ-साथ बदलने की चमत्ता हममें नहीं है। यही कारण है, कि आज हम राष्ट्र-भाषा की उलझन में पड़ गए हैं, और भाषा की सुधी सुझझाने में सँधा असमर्थ हो रहे हैं। यदि पाकिस्तान के प्रभाव को भाषा के क्षेत्र में देखना हो तो अपने संबंध में आप देख सकते हैं। उसके कारण आप के राष्ट्र में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का बल बढ़ गया; किन्तु साथ ही अनुपात में हिन्द-संघ की भाषाओं में द्रविड भाषा की अधिक महत्त्व मिला गया। द्रविड-भाषा अनुपात में आर्य-भाषा से कुछ घाटे गई, और इस दृष्टि से उसकी कुछ अधिक बढ़ने का अवसर मिला गया।

इधर एक और घटना ऐसी घटी, जिससे उसकी कुछ और भी बल मिला गया। कौन नहीं जानता कि हैदराबाद-राज्य को राष्ट्र-भाषा उर्दू के रूप में हिन्दी थी, जिसकी हिन्दी बनाने का उद्योग आज हो रहा है; किन्तु साथ एक दूसरी बात भी काम कर रही है। पड़ोसी भाषा के लोग अपनी भाषा के लोगों को अपने साथ देखना चाहते हैं, और भाषा के आधार पर ही अपना प्रान्त खड़ा करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में नहीं कहा जा सकता कि उनकी भावना इस राष्ट्र-भाषा के प्रति क्या होती है।

हों, इतना अवश्य है कि यदि भाषा के प्रति उनकी वही भावना है, जो मुसलमान के प्रति जिन्ना की थी, तो दख्खन प्रविष्टान के बन जाने में कोई बाधा नहीं। द्रविड़ और चाम्प, कन्नड़ और मलयालम की गौरी किस प्रकार बैठेगी, कौन-सी भाषा उनको राष्ट्र-भाषा होगी, या दे प्ररनों का समाधान हो जाना राष्ट्र के हित में अच्छा होगा। यदि आज हमारे मन में 'भार्यावर्त' और 'द्रविष्टावर्त' का दृष्टि पड़ रहा है तो उसे और बढ़ाना ठीक नहीं। यदि हम अपने ज्ञान और विवेक, अपने साहित्य और संस्कृत, अपने इतिहास तथा पुराण के द्वारा उससे मुक्ति नहीं पा सकते, और चंगोजाचार्य की शिक्षा को ही सफल करना चाहते हैं, तो अभी उसका निपटारा कर लेना ठीक होगा। 'पाकिस्तान' की धुन में जितने 'स्थान' बन सके, बन लें। फिर देखा जायगा कि अब हमारा स्थान कहाँ है ? मिर में, या चरण में।

इतना भय क्यों—जो हो, परिस्थिति तो आज यह है कि आज दक्षिण और उत्तर एक ही राष्ट्र के अंग और एक ही संस्कृति के अंग-मानी हैं, और फलतः चाहते भा एक ही राष्ट्र-भाषा है। यह राष्ट्र-भाषा 'मागरी दिम्ही ही है' हममें मग्नेह नहीं। भाषा-व्यवहार, मक्क की है। चंगोजी के द्वारा हिन्दी की चाक प्रमो हो, देना नहीं कहा जा सकता। हिन्दी समस्या को विधान-परिषद् में हमजिद् स्थान नहीं मिला है, कि यह बहिषा चंगोजी मलता है। नहीं, उसका स्वागत हुआ है, हमारी प्रति तथा उसके ज्ञान के कारण, फिर उसे हिन्दी का इतना भय

चंगोजी यदि आज ही देश से चला गई तो भी देश को तो उसकी भाषा और पाकिस्तान का उपयोग करना ही होगा। और कुछ नहीं, तो हिन्दी ही नहीं, पर इस प्रकार की स्थिति की न तो हिन्दी को कामना, और न सम्भावना ही। चंगोजी तो सब तक अपना काम खेती तक हिन्दी अपना स्थान नहीं लेनी और हिन्दी सभी कामों के सहेली, अब उसको सचमुच सम्भावना मिले।

नया कुछ नहीं करना—सो आज संघ के एक बड़े भू-भाग की वह राज-भाषा बन चुकी है। पाकिस्तान के पश्चिमी-खंड की प्रकृत रूप में वह राज-भाषा है, और पूर्वी-खंड की उसी रूप में राष्ट्र-भाषा भी। हैदराबाद की वह उसी रूप में राज-भाषा रही है, और फारसी की भी वह सरस 'उर्दू' के नाम से दोनों लिपियों, 'नागरी और फारसी' में राज-भाषा है। इनके अतिरिक्त पाकिस्तान से बचे पंजाब से लेकर बंगाल की सीमा तक उसी का अपने प्रकृत रूप में राज्य है। हिमाचल से लेकर विन्ध्य तक ही नहीं, उसके कुछ नीचे तक उसी का सरकार है, संघ में आज आसाम, बंगाल, उत्तर, मद्रास और बम्बई के प्रदेशों को ही उस पर विचार करना है। इनमें भी मद्रास और बम्बई के प्रांत को उसके मुसलमानी रूप वाली 'हिन्दुस्तानी' को अपने वहाँ के मुसलमान की मातृ-भाषा मान चुके हैं, और सन् १८७२ से उसमें उर्दू/लिपि भी देते आ रहे हैं। इधर पूज्य बापू की कृपा से कितने हिन्दी या हिन्दुस्तानी के ज्ञानकार भी वहाँ पैदा हो गए हैं। इस प्रकार सब पक्षों को राष्ट्र की नया करना कुछ भी नहीं है। वस, जो कुछ अभी तक राष्ट्र-भाषा के नाम पर जहाँ-तहाँ होता रहा है, उसी को एक मार्ग पर जगाकर उसको अपनी छांव से गृह और प्रमाणित कर देना है। रोप तो आप ही धीरे-धीरे होता रहेगा।

राष्ट्र-भाषा का विरोध कौन करते हैं—माना, कि आज ही दिवसी से राष्ट्र-भाषा की घोषणा हो गई तो इसका तुरन्त प्रभाव किसी ऐसे व्यक्ति पर तो पड़ा नहीं, जो उसका शायद नहीं। राष्ट्र का प्रत्येक प्राणी राष्ट्र-भाषा पढ़े ही, ऐसा भी इसका कुछ अर्थ नहीं। प्रत्येक प्रांत अपनी भाषा व राज-भाषा का निर्णय आप करेगा। वह चाहे तो प्रत्येक प्रांत के लिए राष्ट्र-भाषा को अनिवार्य कर दे और न चाहे तो किसी राजा में उसे स्थान न दे, और उसे उन लोगों के विकल्पों या शक्ति पर छोड़ दे, जो प्रांत से बढ़कर राष्ट्र से अपना सम्बन्ध स्थापित करना और समस्त राष्ट्र में अपना करतब दिखाना चाहते हैं। निदान राष्ट्र-भाषा

का विरोध जनता की ओर से नहीं, प्रतिनिधि की ओर से है। और वस्तुतः आज के प्रतिनिधि भी जनता के प्रतिनिधि नहीं, ब्रिटिश राज के ओर हैं, जो उसकी नीति-नीति से मुक्त नहीं। उनके जीवन का विकास अनुकूल या प्रतिकूल चाहे जिस दशा में हुआ, ब्रिटिश-शासन में ही हुआ। इसी से उनका अंग्रेजी-मोह भी बढ़ा है।

परन्तु इस मोह से राष्ट्र का उद्धार और लोक का कल्याण तो नहीं हो सकता। नहीं लोक-संगठन के लिए तो उस लोक को अपना ही पड़ेगा, जो अब तक सरकार की उपेक्षा का पात्र रहा है। 'लोक-पुनि' और 'लोक-बाणी' का सरकार 'राष्ट्र-पुनि' और 'राष्ट्र-बाणी' के विरोध में कभी नहीं हो सकता। कारण कि सबकी आत्मा का विकास एक ही ढंग पर हुआ है, और सबकी संस्कृति एक ही है। भाषा की प्रकृति चाहे ऐतनी भिन्न हो, पर प्रकृति सब की एक है। इसी एक प्रकृति ने हमको एक सूत्र में बाँध रखा है, और इसी को आज फिर एक बाणी की आवश्यकता है। संस्कृत और प्राकृत की सीधी परम्परा में अवरण ही है बाणी 'मागरी' ही है, जो और कुछ नहीं 'मागर' अपभ्रंश ही का प्रसिद्ध रूप है, और फलतः उसका नाम भी है 'मागरी-भाषा'; जिसका जोष जान-बूझकर प्रियर्सन आदि भाषा-मनीषियों ने कूट-नीति के साथ किया है और हिन्दुस्तानी के अस-भरे नाम को उसके स्थान पर रखा है।

भाषा की दृष्टि से ही यदि हिन्दी और उर्दू का भेद होता तो 'हिन्दी-स्तानी' से काम चल सकता था, किन्तु हिन्दी और उर्दू का सूत्र प्रकृति नहीं, प्रकृति का है; जिसके कारण अन्त में उसे अलग कर बनाना पड़ा। उसके अलग हो जाने पर जितने रह गए हैं, प्रकृति एक ही है, उनकी बाणी की प्रकृति मजे ही भिन्न हो। दृष्टि की दृष्टि से भारतीय भाषाओं का जो वर्गीकरण हुआ है, स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है। प्रियर्सन की 'मागरी' कुछ 'ब्रिटिश-राज' की रक्षा के लिए भी है ही; किन्तु

सभी उसकी आलोचना व्यर्थ होगी। यहाँ दिखाना हमें यह है कि बताने को यहाँ चाहे जितनी मायाएं बना दी जायें, और उनका चाहे जितना मोट निकास लिया जाय, पर साहित्य और शिक्षा की दृष्टि से महत्व आर्य और द्रविड़-कुल की भाषाओं को ही है। अतः हमें यहाँ इन्हीं की दृष्टि से विचार करना चाहिए और देखना यह चाहिए कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में सभी लोगों के लिए अनिवार्य बना दी जाय, तो किसकी स्थिति क्या होगी।

गुजराती और हिन्दी—आर्य-भाषाओं में गुजराती के विषय में इतना कह देना पर्याप्त होगा, आज से २००-६०० वर्ष पहले उसका हिन्दी से कोई ऐसा विभेद न था, जिसका उल्लेख हो सके। राजका-स्थानी, मलभाषा और गुजराती में इतना साम्य है कि इन्हें सर्ग-बहनें कहा जाता है। राजस्थान के लोग किस सरलता से हिन्दी को अपनी भाषा समझते, और उसके लिए उपयोग करते हैं, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। एक मोराबाई को ले लीजिए, वह हिन्दी ही नहीं, गुजराती को भी अपनी ही समझती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्कृत के पंडित थे। संस्कृत में भाषण देते फिरते थे। कलकत्ते के एक भाषण का उदाहरण डोक से नहीं हुआ। अतः हिन्दी को अपना लिया। स्वामी जी संस्कृत को मातृ-भाषा कहते थे। फिर भी उन्होंने ऐसा किया कि संस्कृत से अब जनता का काम नहीं चल सकता। निदान हिन्दी को 'आर्य-भाषा' आर्यावर्त की भाषा के रूप में लिया, और उसी के द्वारा अपना सारा प्रचार किया। राष्ट्र-पिता म० गान्धी भी उसके निरवयव समर्थक हुए और हिन्दी को राष्ट्र-भाषा माना। कहाँ तक कहें, 'नागरी' के विकास में गुजरात का बड़ा हाथ है। भाषा और लिपि दोनों ही के विकास में उसका योग सबसे अधिक है। 'दक्षिणी' के कवियों ने आरम्भ में अपनी भाषा को 'गुजरी' यों ही नहीं कहा है। यदि आप नागरी लिपि के विकास पर अधिक ध्यान दें, और राष्ट्र-दूतों तथा गुर्वर प्रतिहारों के राज्य का खेला लें तो आप ही स्पष्ट हो जाय कि गुजरात

और हिन्दी में इतना घना सम्बन्ध क्यों ? विपश्चन की भाषा-परिवर्तन में भी यही बात की गई है। गुजराती भी पश्चिमी हिन्दी की भाँति 'अंतरंग' या भीतरी भाषा है, और लिपि तो गुजराती की भी मागरी ही है। देवनागरी का प्रचार कम और देवी-नागरी का अधिक है, पर इधर देवनागरी की ओर मुकाबल अधिक है। लिपि के क्षेत्र में उनकी स्थिति हमारे बिहार-प्रान्त की-सी है।

मराठी और हिन्दी—गुजराती के बाद मराठी की जगह, लिपि में कोई ऐसा भेद नहीं। मराठी के सभी अक्षर हिन्दी में पढ़ने हैं। ग्रन्थि की दृष्टि से यह पश्चिमी हिन्दी की अपेक्षा पूर्वी-हिन्दी के साथ दिलाई देनी है। विपश्चन समझ उसे 'वर्धिरंग' या बाहरी पैर की चीज समझने हैं। पर सब दृष्टि तो व्याकरण के अतिरिक्त इन भाषाओं का कोई ऐसा भेद नहीं जो एक को दूसरे से अलग कर सके। महाराष्ट्र के लोग किस तरहता से हिन्दी पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, हमें कोई 'घात्र' के पक्षरों सम्पादक भी पराक्रम से पूछ दें, अपना प्रसिद्ध राष्ट्र-सेवी भाषा राष्ट्रवाग से सुन लें। हिन्दी का हानि-हान्य देंगे तो पता चले कि इसका रहस्य क्या है।

द्रविड़ भाषाएँ और हिन्दी—मराठी की भाँति ही उडिया और बंगला तथा असमिया की भी स्थिति है। पर अक्षर कुछ अधिक है। लिपि में भी थोड़ा भेद है और उच्चारण में भी। द्रिण्डु अग्नि-भाष का कुछ ऐसा सम्बन्ध रहा है कि हम वर्गों को हिन्दी सीखने में उनका बड़ नहीं होता जिनका दाढ़ बोलने में, हिन्दी का त्रिग-भेद बहुओं को लगता है, पर यहाँ उसका विचार नहीं। घात्र परिस्थिति यह है कि काम-काजी हिन्दी को सीखने में किसी भी आर्य-भाषा-भाषी को उनका बड़ नहीं जिनका कि द्रविड़ भाषा-भाषी का है। जवन: 'अमर्षव' भी उन्हीं की ओर से अधिक है। उनमें भी 'द्रविड़' वा द्रविड़ भाषा-भाषी को ही सबसे अधिक बड़ है और मराठवा की ओर से उन्हीं को

सबसे अधिक भङ्गवशा भी गया है। अतः कुछ इसका भी विचार कर लेना चाहिए।

द्रविड-भाषा भी दो वर्गों में बँटी है, और उन दोनों में होड़ भी कुछ कम नहीं। श्री प्रियसैन साहब ने एक मध्य का वर्ग भी माना है, पर वास्तव में यह थोड़े हिन्दी का हो नहीं गया; बल्कि ही जाने की स्थिति तक पहुँच चुका है, अतः उसको चिन्ता नहीं। द्रविड और आर्य का भेद प्रायः है। आर्य का आर्य-भाषा से मिलना मेल-मिलाप रहा है, उतना द्रविड का नहीं। यहाँ तक कि उसके प्राचीन वैयाकरण संस्कृत को ही उसको भी प्रकृति बताते थे। परन्तु भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उसे अलग ही माना गया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्हें हिन्दी सीखने में उतना भ्रम नहीं, जितना पुर तामिल में है।

आर्य से ॥ मिश्रणी-शुद्धी बहुत-कुछ स्थिति कन्नड़ की भी है। 'कर्नाटक चरित्र' का प्रकाश उत्तर में भी बमका था। आर्य की भाँति ही उसका भी कभी आर्य-भाषा पर शासन था। इधर जैन मत के प्रचारकों के द्वारा अपभ्रंश का प्रसार भी उधर खूब हो गया था। भाव यह है कि उन्हें भी हिन्दी का सीखना संभव नहीं सकता। अरब-काश में ही वे भी हिन्दी के अधिकारी हो सकते हैं।

किन्तु इसके साथे बड़े हुए कुछ संकोच होता है। 'मलयालम' और 'तमिल' की स्थिति कुछ निराशा है। उन्हें कुछ-न-कुछ कष्ट का सामना करना पड़ता है। वह भी विशेषतः 'तमिल' के ध्वनि-संकेतों या व्यंजनों की कमी के कारण उनका विद्वत्त्व उच्चारण भी परिहास का कारण होता है। फिर भी उनकी प्रतिभा और उनका अध्यवसाय सराहनीय है। हिन्दी-भाषा का बोध उन्हें भी ही जायगा। बोलना न सही, लिखना तो उनका अवश्य सुबोध होगा। सर २१ की गणना के अनुसार उनकी कुल संख्या प्रायः २०२१२००० है लगभग यो, और मलयालम की १११८००० के लगभग। इस प्रकार दोनों को मिला-



कर दें तो आज भी ३ करोड़ से अधिक संख्या का यह प्रश्न नहीं है। सच्ची जटिलता हिन्दी के सामने है। और वंछित: विरोध भी हिन्दी का पक्का हो रहा है।

अदूरदर्शी न बनें—द्रविड़-भाषी आज किसी भी दशा में ७-८ करोड़ से अधिक नहीं हैं; जिनमें से ज़ाहो की संख्या में हिन्दी सीख चुके हैं। इसलिए नये सिरे से फिर इस प्रश्न को उठाना ठीक नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि अपनी भाषा की पहचान को इतना महत्व न दें, कल के महत्व को देखें, और अपनी अदूरदर्शिता के कारण अपनी संतान के क्षेत्र को संकुचित किया संकीर्ण न बनायें। भाषा भले ही आवेश में आकर चाहे जितना राष्ट्र-भाषा हिन्दी का विरोध कर लें, पर अंत में जाकर उन्हें सहर्ष इसे अपनाना होगा, और तब अपने इस आग्रह पर पड़वाने के अतिरिक्त और कुछ रोप न रहेगा। अपनी चातुरी और कुशलता के लिए जो त्याग रहे हैं, आशा है इस समय अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे और किसी भुलावे में न आकर अवश्य राष्ट्र का पक्ष लेंगे। उनके मोढ़े-मे काम से राष्ट्र का भित्ति बका उपकार होगा, इसे आप तब तक ठीक नहीं समझ सकते, अब तक आपके सामने अंग्रेज़ी का मोह बना है। अंग्रेज़ी का मगड़ा छूटा नहीं कि सारा मगड़ा दूर है। अंग्रेज़ी नहीं, अंग्रेज़ी के मोह से मुक्त होने का प्रश्न और है। इसी से उतावली और बरही को पुकार भी। हम अंग्रेज़ी के शत्रु नहीं, पर उसके भक्त भी ऐसे नहीं कि उसको बीने से उठाकर कंगूरे पर रख दें, और अपनी सच्ची और वैनी राष्ट्र-भावना को कुंठित करें। आशा है शीघ्र उनके सहयोग से राष्ट्र-भाषा की पताका उस 'उद्-ए-मुयय्यता' अथवा 'लाइव लिगे' पर फहरावगी; जो सन् १९४४ ई० से हिन्दी का विरोधी और 'विस्वाप्त' का भक्त रहा है।



: २४ :

## हिन्दी, हिन्दुस्तानी और तेलगू

( डाक्टर रघुवीर )

अगामी कुछ मास के बाद भारत के विभिन्न प्रांतों के प्रतिनिधि-  
गण दिल्ली में इकट्ठे होकर निश्चय करेंगे कि भारत की राष्ट्र-  
भाषा का स्वरूप क्या हो ?

उत्तर प्रांतोप प्रदेश में हिन्दी ने जो गौरवरस्य पद प्राप्त किया है,  
वह सर्व-विदित है । पूर्वी पंजाब से के अधिभूत मुमलमान का चुके है,  
जो प्रायः हिन्दी के अमल-जात विरोधी सम्प्रदायों से । वहीं के मंत्री  
पं० गोपीबन्धु भार्गव ने बहुत पदों पर ही हिन्दी को अपने प्रांत की  
राज-भाषा घोषित कर दिया है । आगरा और अजमेर के निकरवर्ती प्रांतों  
में भी अभी प्रकार हिन्दी को राज-भाषा के रूप में स्वीकार कर दिया  
है । बिहार की प्रांतीय भाषा हिन्दी है, राजस्थान और मध्यप्रदेश  
की विधानसभा में भी जनता तथा राज्य की भाषा हिन्दी मानो जा  
चुकी है । मध्यप्रदेश तथा बरार में हिन्दी और मराठा दोनों भाषाएँ  
प्रचलित हैं । इसी प्रकार कन्नड़ के उत्तरी प्रदेश में मराठी और  
गुजराती का प्रचलन है । पश्चिमी बंगाल में प्रांतीय भाषा बंगला  
है । पूर्वी बंगाल में भी ठीका व ' लायन-वार्ड ' में प्रयुक्त होने के लिए  
पर्यवसान-सकार बंगला के लिए ही अधिक प्रवृत्त है ।

हम प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर भारत के हिन्दी की प्रांत का

राज्य में हिन्दुस्तानी नाम की कोई भी भाषा प्रचलित नहीं है। कुछ इने-गिने आदर्शवादी व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो हिन्दी और उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी-जैसी एक आमक वस्तु के सृजन तथा प्रचार के लिए प्रयत्नशील हैं। किन्तु हमारे व्यवहार-कुशल सामक्य इस सस्तिर-होन वस्तु को कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद देने-में असमर्थ-से प्रतीत हो रहे हैं।

हमारे देश का दक्षिणी भाग निराल्प सांस्कृतिक एवं संस्कृतमय है। अपने पाठकों के लिए मैं प्रोफेसर पी० टी० रामू द्वारा हाल में लिखे हुए 'वेङ्कू साहित्य के इतिहास' के कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ—

किसी भी प्रांतीय साहित्य का यथार्थ मूल्यांकन जब तक कभी नहीं किया जा सकता जब तक यह न विचार कर लिया जाय कि उक्त प्रांत ने संस्कृत साहित्य की किसनी सामग्री का सृजन किया है, क्योंकि संस्कृत ही वो आधुनिक भारतीय साहित्य की मूल धरती तथा शक्ति प्रदान करने की क्षमता रखती है। यहाँ पर उर्दू की हूट हो जा सकती है। शेष अन्य भारतीय भाषाओं में मिलने भी प्राथमिक काज मिले गए हैं, उनके रचयिता निरवय ही संस्कृत के पंडित रहे हैं। जहाँ क वेङ्कू साहित्य का सम्बन्ध है, इसके सभी प्राथमिक रचयिता ही संस्कृत के ज्ञाता थे। और जहाँ तक प्रभाव की बात है, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य संस्कृत ब्राह्मण से सदा ही अनुप्राणित होता रहा है।

हम कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रांतीय साहित्य के अभागत विकास में तीन प्रमुख धाराओं का प्राधान्य है। उन्हें हम क्रमशः शुद्ध संस्कृत, शुद्ध प्राकृत और संस्कृत-प्राकृत के समन्वय से बनी हुई धारा कहने दें।

वेङ्कू साहित्य का स-जाकीन अन्य है महाभारत माधव का महाभारतम्। 'भारत-धर्म' के प्रचारार्थ हमका सृजन हुआ। बाद में उक्त रचना राजर्षी के पालुय राजा भोज के आदेशानुसार की

जो जिसके राज्य-काल में ही मुहम्मद गज़नवी ने उत्तर भारत में लूट-पाट मचा रखी थी। रात्रौ चरेन्द्र ने विचार किया कि शत्रुओं का सामना न कर सबने वाली अशक्त हिन्दू जाति पर क्रमशः बौद्ध और जैन-मत का अत्यन्त और अवशील प्रभाव पड़ रहा है। उसने हिन्दू-धर्म की शिक्षा देने का रद्द निश्चय किया। धर्म की वास्तविक व्याख्या महाभारत में हुई है, और राजा उसके पात्रों का बंशज माना जाता था। उसे सरकारी जैन पुराणों का मूलोद्घेदन भी करवा था। महाभारत में लोचनव्रतमठ एवं नेत्र-वधान प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। इस ग्रंथ द्वारा जैन और बौद्ध मत का सार्वजनिक-प्रभाव ही नहीं नष्ट हो गया, अपितु जनता को भी इस बोध बनाया जा सका कि वह अपने जीवन में धीरता और दया के इसलाम से संपर्क कर सके।

महाभारत-काल के बाद ऐजगू साहित्य में रामायण-काल का प्रादुर्भाव होता है। इसी के बाद भागवत-काल आता है।

इसकी १२ वीं शताब्दी के अन्त तक का समय पुष्य-काल और अनुवाद-काल कहा जाता है। उसके बाद पुराणों के अन्वय्य ग्रंथों का अनुवाद-कार्य चलता रहता है। ऐसा होना भी स्वाभाविक ही है। कारण, प्रस्तुत ऐजगू साहित्य द्वारा हमें ज्ञात होता है कि इसका आरम्भ ही जनता में माध्यम-धर्म तथा संस्कृति का स्थापक प्रचार करने के लिए हुआ था, और यह कार्य रामायण, महाभारत एवं पुराण-जैसे विशाल ग्रंथों के बिना असम्भव था।

ये पुराण न्यूनाधिक रूप में संसार के विभिन्न राष्ट्रियों से परिचित कराने के लिए संपूर्ण सृष्टि का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। रामायण और महाभारत में भी हमें उसी सार्वभौमिक आदर्श का दर्शन मिलता है। मौलिकता के अभावका नहीं, अपितु किसी मदान् उदरक की पूर्ति के लिए ही निरालीन विद्वानों ने एक-दूसरों के मतों में

अपनी गति शक्ति लगा दी थी। यदि उ  
होने लगे निश्चय ही परिणाम भी अध्ययन  
ईसा की १६वीं शताब्दी के आरम्भ में  
अन्त तक का समय तेजगू-साहित्य में प्रकाश  
इन प्रकाशों का गुणन भी संस्कृत के महाकाव्य  
संस्कृत में पाँच महाकाव्य हैं—राघवंश,  
शुभीष, सिधुपात्र-वध और नैषध। ठीक इस  
पाँच महाकाव्यों का काम इस प्रकार है—स्व  
अमुक्त मात्यद, वसु बरिन्ध, गङ्गा नैषध  
माहात्म्यम्।

जैसे संस्कृत साहित्य का, ठीक उसी प्रकार ते  
भी कोई व्यक्ति पंडित नहीं माना जा सकता, जब  
पाँचों महाकाव्यों का विराट् अध्ययन न कर चुका हो।  
किन्तु तेजगू के तो प्रत्येक महापंडित के लिए उ  
काव्यों का परिपक्व ज्ञान होना आवश्यक है; कार  
अधिकारी विद्वान् हुए बिना कोई व्यक्ति तेजगू का महा  
सकता।

हाँ, तो विजयनगरम् के पतन के साथ ही आन्ध्र दे  
गौरव तथा चाराओं पर पानी फिर गया। जनता में आ  
की भावना भी जाती रही। ईसा की १७वीं शताब्दी के म  
११वीं शताब्दी तक के समय को अशान्ति-काज कहा जाय  
चित न होगा। इस काल को सार्थक करने वाले कुछ शतक  
गए थे उनके नाम मनुहरि, रामशतकम्, आन्ध्रनायक  
नरसिंहशतकम् थे। १७वीं शताब्दी के आरम्भ में

उनके गाँवों तथा नगरों को सुसज्जमान लूट-पाट रहे थे। उनके मन्दिरों को तोड़ना, तथा उनकी स्त्रियों का अपहरण करना तो सुसज्जमानों का साधारण कार्य था। ये तीनों शतक कवित्व के गुणों से युक्त, तथा भावगत सौन्दर्य एवं शैलीगत विशेषताओं से ओत-प्रोत हैं। इनका अनुवाद यदि सभी भारतीय भाषाओं में हो सके तो अनुचित न होगा। उनमें अपने देश को शिक्षा एवं आत्मन्द प्रदान करने की प्रयत्न सामग्री मिलेगी, इसमें सन्देह नहीं।

सत्रहवीं शताब्दी में ही गद्य-काव्य का आरम्भ होता है। भीरुनाथ राय का 'वाल्मीकि चरित्रम्' तेल्गू साहित्य की प्रथम गद्य रचना है। १८वीं शती में कवि भी वेंकेट शङ्कर ने महाभारतम्, महाभागवतम् तथा रामायणम् की रचना गद्य में की। इसी समय संजोर, मधुरा तथा मैसूर में भी अनेक गद्य-ग्रन्थ लिखे गए। तेल्गू में नाटक के जन्मदाता भी यशभरयम् थे। उन्होंने भागवतम्, बीभी-नारकम् और हरिकथा की रचना की। भागवतमूदल तथा देव दामिणी द्वारा इन नाटकों का प्रदर्शन बड़ी कुशलता से होता है। इन नाटकों में नृत्य, वाद्य, संगीत तथा कला के साथ-साथ प्राचीन भरत-नाट्य के मूल-तत्वों का सुन्दर समन्वय भी मिलता है।

आधुनिक तेल्गू-साहित्य के संस्थापकों में रायबहादुर के. विरय-नाथजिगम् का नाम गौरव के साथ लिया जाता है। पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उनकी वृत्ति राजशेखर-चरित्रम् तेल्गू के प्रथम उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुई है। आपने संस्कृत के अनेक नाटकों का तेल्गू में अनुवाद भी किया है। अन्य की अपेक्षा उनके अनुवादों में विचारों की सरलता अधिक है। साथ ही, ध्वनि का पारिस्वरपूर्ण प्रदर्शन तनिक भी नहीं। अंग्रेजी शिक्षा के आनेश में बहुत-से शिक्षित आन्ध्र-वासियों ने अंग्रेजी नाटकों को देखा, और तेल्गू में भी उनका अनुकरण करना आया। ठीक इसी समय पारसी नाटक-समितिओं का प्रसार में आया, जिनमें हिन्दी के नाटक खेले जाते थे। उन्हें देखकर विजयनगरम् के

मद्रास सर आनन्द मठपति ने अपने यहाँ संस्कृत-भाष्य-मिति स्थापित की, जिसमें मंस्कृत के भाटक लेते जाते थे।। मुगलक के जमींदार ने भी एक भाष्य-मिति स्थापित की, जिसमें हिन्दी के भाटक लेते जाते थे। तभी से मंस्कृत के भाटकों का तेलगू-अनुवाद आरम्भ हुआ। प्रथम ग्रन्थ जो संस्कृत से तेलगू में अनुवादित होकर प्रकाशित हुआ वह था "नरकमुरा विजय वियोगम्"। उसके बाद श्रीशक्तिन् के अभिज्ञान शाकुन्तल और रत्नावली नाटक प्रकाशित हुए। अब दो और भाष्य-मितियाँ बैररी और मद्रास में क्रमशः सरमविनोदिन-सभा तथा सगुनविज्ञानिनी-सभा के नाम से स्थापित हुईं। उनके कुछ भाटक तो आनन्द टाइट और प्रख्यात हुए, यद्यपि उनका मूलतः संस्कृत प्रणाली पर ही हुआ था।

तेलगू के चल-चित्र न्यूनाधिक रूप में हिन्दी के अनुकरण-मात्र हैं। उनके गीतों में भी कोई विशेषता नहीं मिलेगी।

तेलगू के दैनिक-साप्ताहिक तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं :—

"आंध्र-पत्रिका दैनिक तथा साप्ताहिक दोनों रूप में प्रकाशित होती है। कृष्ण-पत्रिका एक व्याति-यास साप्ताहिक है। श्री रामनाथ गोयनका द्वारा दैनिक आंध्रप्रभा प्रकाशित होती है। आनन्दवाणी, विदारी तथा त्रिलिङ्ग-नामक अन्य साप्ताहिक भी प्रकाशित होने हैं। कुछ ऐसी पत्रिकाएँ भी हैं, जो कुछ समय से तेलगू साहित्य की सेवा तो कर रही हैं, किन्तु भविष्य में अधिक समय तक उनके चलने की संभावना कम है, उनमें मञ्जु-वाणी, कला-आरदा और प्रबुद्ध-आंध्र विशेष उल्लेखनीय हैं। डाक्टर बैररी की गृहलक्ष्मी-नामक एक-मात्र पत्रिका महिलाओं के लिए प्रकाशित होती है।"

पाठक ध्यान देंगे कि एक उदाहरणों में सभी पुस्तकों के नाम संस्कृत में हैं, और ये नाम केवल तेलगू में ही नहीं, भारत की सभी आर्य-भाषाओं में वैदिक-काल से लेकर आज तक प्रचलित रहे हैं।

तेलुगू साहित्य में १६वीं शताब्दी तक जितने भारतीय ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, अधिकांशतः संस्कृत में हैं । बाद में उक्त साहित्य पर पारचाय प्रभाव भी पड़ा, और डीक यही दशा अन्य भारतीय साहित्यों की भी रही है । तेलुगू साहित्य के उत्कृष्ट विद्वानों का विचार है कि तेलुगू शब्द-भाण्डार में ७२ प्रतिशत शब्दों का रूपान्तर संस्कृत से हुआ है । तेलुगू शब्द-कोष के अग्रसोकन से इस बात की पुष्टि भी हो जायगी । संयुक्तप्रान्त और पंजाब की अपेक्षा तेलुगू लोगों के सांसारिक जीवन, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ अथवा संगीत और नृत्य-सम्बन्धी सभी दृष्टिकोण सर्वथा भारतीय हैं । अतः भारत के साहित्यिक इतिहास में भी इनकी विशेषता को स्वीकार करना होगा । निश्चय ही, उत्तर-भारतीय जन, जब कभी आंध्र-प्रदेश का इतिहास पढ़ेंगे तो उनके प्रति प्रेम और प्रकृता के भाव से वे प्रभावित हुए बिना न रहेंगे ।

क्रास्ती और अरबी से छड़ी हुई हिन्दुस्तानी की भाषा और विचार-धारा में आंध्र-निवासियों को भिन्नी भाँति भी प्रभावित करने की शक्ति नहीं है । उस लाति के लिए तो यह पूर्णतया निन्दणी सिद्ध होगी । बड़ी ही नासमझी का कार्य होगा, यदि हम दक्षिण-भारतीयों पर हिन्दुस्तानी, या दूसरे शब्दों में अरबी-क्रास्ती से युक्त हिन्दी को सादने का प्रयत्न करेंगे । दूसरी ओर हिन्दी में उन्हें कुछ-न-कुछ तो अपभाषन मिलेगा ही । हिन्दी के माध्यम से उन्हें भारतीय कथा, कविता, पुराण, धर्म तथा मनोविज्ञान के उत्तम चार्यों का परिचय अनिवार्यतः मिलेगा । हिन्दी और संस्कृत में एक सांस्कृतिक सम्बन्ध है । उत्तर भारत में हिन्दी जिस प्रकार संस्कृत की प्रमुख उपाधिका-रिणी रही है, उसी प्रकार दक्षिण भारतीय-जनता द्वारा भी यह गौरव तथा सम्मान प्राप्त करेगी ।



: २५ :

## हिन्दी और उर्दू का मुकाबला

( श्री रविशङ्कर शुक्ल )

जब हिन्दी वाले कांग्रेस वालों की हिन्दुस्तानी नामधारी उर्दू का या गांधी जी के हिन्दुत्वानीवाद का विरोध करते हैं तो उन्हें चुप कर के लिए प्रायः ताना दिया जाता है कि भार अपना काम-काज अँगरेज़ में क्यों करते हैं, पते अँगरेज़ी में क्यों लिखते हैं, आदि; और अन्त में उन्हें उपदेश दिया जाता है कि हिन्दी का ठोस काम कौत्रिप और पीषा का नाश करते हुए उनमें पूछा जाता है—“जैसी उर्दू की उन्मावि उर्दू वाले कर रहे हैं, वैसे हिन्दी वाले कर रहे हैं ? जैसा साहित्य-प्रकाशन उर्दू वाले कर रहे हैं वैसा करने वाली कोई हिन्दी की संस्था है ?” उनका मतजब होता है, हम और हमारे राष्ट्रीय नेता चाहे कुछ क्यों, हममें कुछ मत कहो ! इन तानों का उत्तर देना आवश्यक है। जहाँ तक अँगरेज़ी का सम्बन्ध है, हिन्दी वाले अँगरेज़ी का जो आग्रह लेते हैं उसको वकाशत करने की जरूरत नहीं, परन्तु वे लोग पढ़ते यह बातचार्य कि वे ‘हरिजन’ को अँगरेज़ी भाषा में क्यों निकालते हैं ? कांग्रेसी-नेता अँगरेज़ी में वक्तव्य क्यों देने हैं और परिचित नेहरू की लेखनी से धमर-साहित्य कम-से-कम उसी अटपटी ‘हिन्दुत्वानी’ में क्यों नहीं निकलता जिसे वे मन्त्र से जनता की भाषा कहकर बोझें ? वर्तमान सरकार के परिचित नेहरू-जैसे ‘हिन्दुत्वानी’ के धनो-धोपी

कांग्रेसी सदस्य अपने रेडियो में प्रसारित किये जाने वाले भाषण अंगरेजी में सोचकर, अंगरेजी में लिखकर, उनका सदा-सा 'हिंदुस्तानी' अनुवाद पहले सुनाकर फिर उन्हें अंगरेजी में क्यों सुनाते हैं ? क्या गांधी जी का अंगरेजी 'हरिजन' केवल अंगरेज पढ़ते हैं अथवा क्या सरकारी सदस्यों के अंगरेजी भाषण केवल चीनो और जापानी सुनते हैं ? अस्तु, यहाँ अंगरेजी की बीमारी की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं; उसमें हिन्दी वालों को जाना देने वाले भी उसना ही मुक्तता हैं जितने बेचारे हिन्दी वाले । यहाँ केवल इस प्रश्न के उत्तर में दो शब्द कहे जायेंगे कि 'उर्दू' वाले जो तरबची और सादित्व-प्रकाशन कर रहे हैं उसके मुकाबले हिन्दी में क्या हो रहा है, उत्तर है, कुछ नहीं । कारण भी सुन लीजिए । 'उर्दू' को जैसा राज्याभय १२० वर्ष से प्राप्त है, वैसा हिन्दी को आज भी प्राप्त नहीं । इसके लिए भी कांग्रेस जिम्मेदार है ( उदाहरणार्थ, आल इंडिया रेडियो, देश की प्रायः सभी अखबारों, पुलिस-विभाग, म्यूनिसिपैलिटियाँ आदि, आदि ) हिन्दी को राज्याभय देने के लिए अधिकांश प्रान्त आज भी तैयार नहीं । वे हिन्दी के लिए अपनी छोटी उँगली भी उठाने को तैयार नहीं । हिन्दी के पास कोई निजाम भी नहीं । यदि आज कोई हिन्दू राजा हिन्दी के लिए वही कर जो निजाम ने उर्दू के लिए किया है और कर रहा है तो सबसे पहले हिन्दी वालों को जाना देने वाले ही उसे साम्प्रदायिक घोषित करेंगे और सत्याग्रह करने पर दौड़ेंगे, परन्तु भी राजगोपालाचारी आकर निजाम की पीठ ठोकने हैं और उस्मानिया-विरुद्धिवाचक को 'हिंदुस्तानी' को शिष्टा का माध्यम बनाने के कारण 'प्रथम स्वदेशी विरुद्ध-विप्लव' घोषित करते हैं । जिस प्रकार मौलाना आजाद उर्दू का समर्थन करते हैं और कर सकते हैं, उसी प्रकार हिन्दी का समर्थन गांधी जी पूरी तरह से कर रहे थे । जिस प्रकार भी आत्मकथनी कांग्रेस में रहते हुए उर्दू में बोलते हैं, उसी प्रकार डा० राजेन्द्रप्रसाद उर्दू हिन्दी में बोलेंगे । जिस प्रकार डा० चन्द्रशेखर उर्दू के लिए सव-

## राष्ट्र-भाषा—हिन्दी

कुछ करने की स्वतन्त्र है, उसी प्रकार टंडन जी भी हैं। जिस प्रकार  
 डा० जाध्वि हुसैन हिन्दुस्तानी छात्रों की मद में रहते हुए जामिया  
 मिलिया के सर्वेसर्वा हैं, उसी प्रकार मि० श्रीमन्नारायण चमराज  
 हिन्दी की सेवा करेंगे। जिस प्रकार एक 'नेशनलिस्ट' पत्र 'हाम्मे  
 प्रानिक्लिन्' के 'नेशनलिस्ट' सम्पादक श्री चम्पुता 'बोलेशी उद्' का  
 समर्थन करते हैं, उसी प्रकार 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के सम्पादक  
 देवदाम गोंधी हिन्दी का पक्ष लेंगे। जिस प्रकार पन्नाथ, मद्रास  
 और बंगाल की सरकारें हिन्दी का विरोध और उद्' का पोषण  
 करती हैं, उसी प्रकार मयुक्त-ग्राम, बिहार और मध्यप्रान्त की सरकारें  
 उद्' का विरोध करना तो दूर रहा, हिन्दी का पोषण हो करती हैं वा  
 करेंगी? उन पर तो 'हिन्दुस्तानी' का भूत मगरा है न। वे तो उद्'  
 की उतनी ही, बल्कि अधिक, उन्नति करेंगी जितनी हिन्दी की, और  
 दूसरी और हिन्दी को मुन्नत करेंगी (जैसे विहार में)। हिन्दी के परं  
 पुन-ग्राम की कांग्रेसी सरकार को ही सीजिए। हमने पीम्पुर रिपोर्ट  
 का उलार देने हुए अपनी पुस्तिका 'मुमनमान अद्विपण और हकूमन  
 मूवात्राण मुनहदा' में स्पष्ट सिद्धिस्त किया था—“हकूमन ने कभी  
 हिन्दी को उद्' पर कैदिवन नहीं दी बल्कि बाज़ मीशों पर उद्' को  
 मरजीद ही गई है...” कांग्रेस के 'हकूमन' अंगरेज बहादुर ने हिन्दी  
 को अस्तिवासेट करने का जो प्रयत्न किया था उसमें बहुत-कुछ सफलता  
 पाई थी, वह संपेत नहीं था, हकूमन जगता की प्रतिनिधि और सब  
 मामलों में प्रिडिश सरकार की विरोधी कांग्रेस ने भी उसी नीति को  
 चामू रखना उचित समझा। क्या-हिन्दी ने वह छात्रा की की कि  
 राष्ट्रीय सरकार के जाने से मुक्त-ग्राम में हिन्दी के दिन दिनें, परम्पु,  
 कांग्रेस-सरकार ने हिन्दी को, और अपनी शक्ति से जाने बजती हुई  
 हिन्दी के परं हमने में, सहायता देना तो दूर रहा, हिन्दी के नाम  
 उतना भाव भी नहीं दिया, जितना कुछ बहुत बड़े हकूमन की भाषा  
 के साथ किया जाता चाहिए।

कई हिंदी-श्रोतों में पाठ्य-पुस्तकों से हिन्दी में अनुवाद करने के लिए एक लाख रुपया दिया जायगा तो उर्दू की पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के लिए भी एक लाख रुपया खींच ही दिया जायगा, आदि । इसके विरुद्ध उर्दू भाषियों में क्या हो रहा है, वहाँ की सरकारें क्या कर रही हैं, और करेंगी ?

यह केन्द्र पर दृष्टि डालिए । आज की सम्प्रकाशीन सरकार में या तो उर्दू पर ध्यान देने वाले हैं या 'हिन्दुस्तानी' पर ध्यान देने वाले अर्थात् उर्दू-लिपि और उर्दू-शब्दों का देवनागरी और हिन्दी-शब्दों के साथ-साथ प्रचार चाहने वाले । वहाँ हिन्दी का कोई धनी-धोरी है ? जिस प्रकार सर मुसलमान अहमद ने रेडियो-द्वारा उर्दू को पोषण किया था और आज भी कोई राष्ट्रवादी यदि उसे रेडियो-विभाग मिल जाय तो होगा, वैसी हिन्दी की सेवा सरदार पटेल करेंगे ? जब इन कॉम्रेसी नेताओं के मुँह से पहले विरोध का एक शब्द नहीं निकला तो आज क्या आशा की जा सकती है ? जिस प्रकार आज हिन्दी-प्रचारकों के दिख में खींचावानी और संकय पैदा हो गया है, वैसा कभी किसी मुसलमान प्रचारक के दिख में पैदा हो सकता है ? जिस प्रकार आज हजारों हिन्दु-प्रचारक उर्दू और उर्दू-लिपि के पीछे मलबासे हैं, उसी प्रकार किसी मुसलमान को भी हिन्दी और देवनागरी की चिन्ता है । वास्तव में हिन्दी बाजों को ठाना देने वाले जो प्रचलन पूछते हैं उसका उत्तर वे स्वयं हैं । हिन्दी को 'राष्ट्रीयता' के राष्ट्र ने प्रसन्न किया है । एक ओर तो हिन्दुओं के लिए हिन्दी के साथ-साथ उर्दू और उर्दू-लिपि सीखना और सिखाना 'राष्ट्रीय' करार दिया जा रहा है और दूसरी ओर हिन्दी को 'कठिन', 'कृत्रिम' और न जाने क्या-क्या बताकर 'हिन्दुस्तानी' नामधारी उर्दू को 'राष्ट्रीय' बताया जा रहा है । हिन्दी का नाम लेना तो आज साम्प्रदायिकता है, फिर भला 'राष्ट्रीय' महा-पुरुष उसे कैसे पूछ सकते हैं ? और 'राष्ट्रीय' महापुरुषों के लिये हिन्दी को पूजने वाला है ही कौन ? क्योंकि 'राष्ट्रीयता' केवल हिन्दुओं की-

बपीनी उहरी; और हम 'राष्ट्रीयता' में न हिन्दी का कोई स्थान है और न हिन्दुत्व का।

यदि हिन्दी-उद्' वाले मन को इस प्रकार रखा जाय कि जिस प्रकार मुसलमानों के राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक हितों की तरफ़ी करने के लिए एक ऐसी लीग है जिसके दावाये पर गाँधी जी भी नंगे-पाँव जाने थे और कॉंग्रेस भी मित्रता की मित्रा मँगती रहती है, उसी प्रकार हिन्दुओं की कौन-सी संस्था है ? तो परिस्थिति ज़रूरी समझ में आ जायगी। आज भारत की केन्द्रीय असेम्बली में स्पीकर को कुर्सी पर नन्दे होकर जोर से पूछिए, यहाँ कोई बिक्रानों के हितों की रक्षा करने वाला है ? उत्तर मिलेगा, हाँ। पूछिए, ईसाइयों की ओर से लेने वाले कोई है, एंग्लो-इण्डियनों की तरफ से, यूरोपियनों की तरफ से, पारमियों की तरफ से कोई खोजने वाला है ? प्रत्येक बार उत्तर होगा, हाँ ! पूछिए, मुसलमानों की तरफ से कोई खोजने वाला ? बहुत-से उत्तर माथ मिलेंगे, हाँ। फिर पूछिए, इस हिन्दुत्वान १० करोड़ हिन्दुओं की इस पुण्य-भूमि और जन्म-भूमि को, और हृष्य की इस लीला-भूमि की केन्द्रीय-प्रतिनिधि-सभा में ऐसा भी है जो हिन्दुओं के हितों की रक्षा के लिए खोज सके ? उत्तर नहीं मिलेगा। जिस असेम्बली में सत्त्वार्यप्रकाश के रक्षार्थ १५ न उठा वहाँ हिन्दी की रक्षा कौन करेगा ? स्वर्गाय माधवीय जी को बुदायस्था में दीर्घ-जीन के बाद वह क्यों कहना पड़ा कि हिन्दुओं के धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकार, कॉंग्रेस के हाथ में सुरक्षित नहीं हैं।

यह मूलना नहीं चाहिए कि अब कुछ और कहा जाय, अन्तर्गत-गत्या हिन्दी और उद्' का मामला, हिन्दू और मुसलमान का मामला है। जिस प्रकार आज राजनीति के मैदान में या तो मुसलमान हैं या सयाकथित 'राष्ट्रीय,' उसी प्रकार या तो उद्' को राष्ट्र-भाषा मानने वालों का खोज-बाला है, या 'हिन्दुत्वानो' (हिन्दी+उद्') और

'दोनों सिपि' का । यही हाल में आन्ध्र के मुसलमानों का एक हेतुस्थान मौलाना आज़ाद से मिला था और यह इच्छा प्रकट की थी कि उनकी शिक्षा का माध्यम तेलगू के बजाय उर्दू हो । कहते हैं, मौलाना आज़ाद ने उनकी सिफारिश मद्रास के तत्कालीन प्रधान-मन्त्री से की थी । जिस प्रकार भारत का हर एक मुसलमान उर्दू पर परवान देता है उसी प्रकार अहिन्दी-हिन्दुओं को कौन कहे, हिन्दी-हिन्दू भी नहीं दे सकते—उसमें भी डा० ताराचन्द और पण्डित सुन्दरदास-जैसे महापुरुष उत्पन्न हो गए हैं । अहिन्दी हिन्दुओं को तो अब हिन्दी की चिन्ता रह ही नहीं गई है । भारत-भर के मुसलमानों की शक्ति और साधन उर्दू में खो चुके हैं, परन्तु हिन्दुओं का प्रकाशन और होम या पोला काम एक नहीं, दस-बाह भाषाओं में, जिनमें उर्दू भी शामिल है, हो रहा है । जिस भाषा की पीठ पर राज्य-सत्ता हो, जिसके दस करोड़ असह्य अनुयायी हों, जिसे 'राष्ट्रीय' महापुरुषों द्वारा भी हिन्दी के समकक्ष स्थान दिया जाकर उसका राष्ट्रीय प्रकरणों में समान प्रचार अनिवार्य करार दे दिया गया हो, जिस पर अकेले निजाम ने कई करोड़ ( और वह भी हिन्दू-कर-दाताओं का ही ) ख़ाज तक खर्च कर दिया हो, जिसकी सर्वाङ्गीपूर्ण वृद्धि के लिए निजाम ने अ-उर्दू प्रदेश में ही २० लाख रुपये लगाकर एक विरव-विद्यालय खड़ा कर दिया हो, जिस पर ख़ाज भी प्रतिवर्ष लाखों रुपये खर्च करता हो, जिसके प्रचार-प्रसार के लिए निजाम लाखों रुपये प्रतिवर्ष गुप्त दान देता हो, जिसके पीछे ज़ीत-जैसी राजनीतिक संस्था हो, उसकी तरफ़ी और प्रकाशन का बेचारी हिन्दी से क्या मुकाबला, जिसके पीछे ख़ाज स्वयं हिन्दू लड़ लिये घूम रहे हों और जिसकी सुन्नत करने की किराक में स्वयं हिन्दी-भाषी हों ।

यह तो प्रश्न-कर्ताओं की स्वयं सोचना चाहे कि संख्या और साधनाओं में हिन्दुओं के अधिक होते हुए भी हिन्दी-उर्दू के मुकाबले में विषय रही है, जब कि वैयक्तिक दृष्टि से एक हिन्दी वाक्या



## भारत की राष्ट्र-भाषा

( श्री मौलिचन्द्र शर्मा )

विधान-मन्त्रिपरिषद् की आज्ञाकारी बैठक में राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उप-स्थित होगा, ऐसी आशा है । यह राष्ट्र-भाषा भारतीय भाषाओं में से एक होनी चाहिये, यह सर्वमान्य है । भारतीय भाषाओं में से ऐसी एक भाषा राजस्थान से बिहार तक के मध्यस्थ-देश की भाषा के आधार पर ही बनेगी, ऐसा भी प्रायः सर्वमान्य है । मठभेद उस भाषा के ध्वारण्य अथवा डॉबे के विषय में नहीं, शब्दावलि और लिपि के विषय में है । हिन्दी और हिन्दुस्तानी दोनों ही का घातु-पाठ, विभक्ति प्रत्यय, ध्वारण्य और मौलिक-स्वरूप एक ही है । भारतीय शब्दावलि सहित भारतीय-लिपि देवनागरी में लिखी जाने पर यह हिन्दी कह-जाती है, और अभारतीय शब्दावलि अधिक रूप से ग्रहण करके जब यह देवनागरी के साथ-साथ अभारतीय-लिपि कमाली और कुछ लोगों के मत से अभारतीय-लिपि रोमन में भी लिखी जाती है, तब इसे हिन्दुस्तानी कहते हैं ।

भारतीय भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव—इसने विवेचन ही से स्पष्ट ही आसना कि शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि से तो हिन्दी के रहते अभारतीय शब्दों वाली हिन्दुस्तानी अपास्य होनी चाहिये । अहिन्दी-भाषी प्रान्तों की सुविधा को देखते हुए हिन्दी सबके लिख सहज और उपयुक्त स्थिर



होती है। पूर्व-भारत में बंगला, असामी और उडिया बोली जाती है। तीनों का बाङ्गमय संस्कृत शब्दावलि पर आधारित है और इन सबका लिपि भी देवनागरी के समान ही ब्राह्मी से उद्भूत और देवनागरी ही का प्रतिरूप है। पश्चिम भारत में मराठी और गुजराती की लिपि तो देवनागरी है ही, शब्दावलि भी हिन्दी ही के समान संस्कृत-मूलक है। दक्षिण की चार भाषाएँ यद्यपि संस्कृत बंध की नहीं हैं, परन्तु सदस्यों वर्य से संस्कृत-कुटुम्ब में इतनी गूढ़ निष्ठा सहित मिल चुकी हैं, कि तमिल को छोड़ अन्य तीन दक्षिणी भाषाओं का बाङ्गमय तो अनेक स्थानों पर उत्तर-भारतीय भाषाओं से भी अधिक संस्कृत-निष्ठ मिलता है। तमिल में भी प्रायः आधी शब्दावलि संस्कृत से ही आई है। दक्षिण की सब भाषाओं तथा संका की भाषाओं की द्विविध भी ब्राह्मी से उत्पन्न हुई है और देवनागरी के ही सदस्य हैं।

समान प्रवृत्तियाँ—इसी प्रकार इन सब भाषाओं के साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी हिन्दी के सदस्य हैं। दर्शन, व्याकरण, पुराण, इतिहास, विज्ञान, धर्म-शास्त्र, समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति, कला इत्यादि जीवन के सभी अंगों के सम्बन्ध में सब भारतीय भाषाओं में एक-सी विचार-धारा प्रवाहित हुई है। उनका स्वरूप, एक है—भारतीय संस्कृति। उनका लक्ष्य भी एक है—इसी भारतीय संस्कृति के आधार पर भारत राष्ट्र का उत्थान और नव-निर्माण। बाहर से जो कुछ भी उनमें आया और आयगा, वह भारतीय ही बनकर आधारा और रहेगा। इस कारण से प्रान्तीय-भाषा-भाषियों को हिन्दी अध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और भौतिक सभी कारणों से निकटतर, और सद्गततर है।

हिन्दुस्तानी का प्रश्न—फिर यह कैसा आश्चर्य है कि हमारे देश के अनेक सुपठित और विचारशील, अथवा अभी तक अमरातीय संघर्षों से दूषित हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा पद पर प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं। मैं यह नहीं मानता कि वे राष्ट्र-हित से प्रेरित नहीं हैं, परन्तु कुछ सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों से उनके मनों में यह

भ्रान्त-धारणा पर कर गई है कि जिन अभावीय तत्वों का सन्निवेश हिन्दुत्वानी में होता है उनके स्वीकार किये बिना भारत की राष्ट्रीय एकता के भार में बाधा पड़ेगी। आइये, इस धारणा की भी ठेक की कसौटी पर कस लें।

हमारा पिछले प्रायः ३० वर्ष का राजनैतिक आन्दोलन का इति-  
हास हिन्दू-मुस्लिम अथवा यदि अधिक शुद्ध करें तो कांग्रेस और  
मुस्लिम-लोग वाली प्रवृत्तियों के संघर्ष का इतिहास है। लीगो-प्रवृत्ति  
इस्लाम-धर्म-आज उस 'तमससुब' का राजनीतिक रूप है, जो मुसलमान  
को परधर्मों से घृणा करना, और उससे असहिष्णुता-पूर्वक अलग  
रहना सिखाता है। अन्यथा ऐसी सभ्यप्रवृत्ति और विदेशी धर्मों को  
मानने वाले अन्य लोगों में भी देखने को नहीं मिलती। ईसाई इस  
देश में ११ सौ वर्ष पुराने हैं; परन्तु कभी भी वे अभावीय नहीं बने।  
पारसी इस देश में १२ सौ वर्ष से अधिक हुए जब आए। वे भारतीय  
बन गए और हमारे राष्ट्र का एक विरवस्व और भाग हो गए;  
परन्तु मुसलमान भारतीय संस्कृति की सदा से अस्वीकार करता आया  
है और उसकी यही साथ रही है कि जिस प्रकार कुछ समय तक उसने  
यहाँ इस्लामी-राज्य स्थापित करने में सफलता पाई, वैसे ही वह यहाँ  
की संस्कृति को इस्लामी बना सके। दूसरे कई देशों में इसमें उसे  
सफलता मिली है। तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान आदि अन्य धर्म  
देशों में, इस्लामी-राज्य के साथ-साथ इस्लाम-धर्म और संस्कृति  
व्याप्त हो गई। तुर्की और फारसी भाषाओं पर भी धर्मों का गहरा  
रंग पड़ा। भारत में फारसी भाषा को व्यवहक रूप देने में जब उन्हें  
असफलता मिली तो भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी का इस्लामी-धर्म  
आरम्भ किया, उसी का फल भी उद्'। उद्' का अर्थ है वह हिन्दी  
जिसके भौतिक ढाँचे और व्याकरण को छोड़ केव सर-कुछ भाषी,  
फारसी और इस्लामी हैं—जिबि, उम्दावजि, और भाषावजि तथा  
मुन्द तक परदेशी हैं।

बापू की नीति—मुसलमानों की त्रिप प्रवृत्ति ने हिन्दी को उर्दू बना दिया, उन्हीं प्रवृत्ति ने भारतीय राष्ट्रीयता के अन्धान-राज में मुसलिम लीग को जन्म दिया। उन्हीं की वजह से हमी प्रवृत्ति ने इस देश में मुसलमानों को मुर्खों टोरी पहनाया। उर्दू बनाने वाले मुसलमान पहले असमझ को 'हस्तक्षान' बनाने का स्वप्न देखते थे। धनवर पन्ना के पान-हस्तक्षान के पुत्र में उन्होंने मुर्खों टोरी पहनी। बापू को कांग्रेसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय-मुद्र में जब मुसलमानों का साथ मीथे रहने न मिला तो स्वराज्य के साथ निजाऊट का गठ-बन्धन किया गया। अन्वेषण हमारे वं नेता, जो धर्म-मूखक राज-व्यवस्था के हटने विरोधी हैं, उन्हें तो धर्म-मूख मुर्खों की जनता को लक्ष्मीका से मुक्ति या एक 'मिश्रकृत स्टेट' की स्थापना करने पर ब्याहं देनी चाहिए थी, और निजाऊट-मदरा धार्मिक-शामन के पुनः संस्थापन का और विरोध करना चाहिए था। परन्तु जैसे भी हो मुसलमानों को कांग्रेसी साम्राज्य के विरुद्ध अपने साथ मिलाना ही था। यहाँ के आन्दोलन से सिखाऊट फिर से जमने बाकी नहीं थी। यदि इस मोड़ में भारतीय मुसलमान कांग्रेस के साथ हो जाते तो यह नीति बुरी नहीं थी।

परन्तु दैव हम पर हँस रहा था। मुसलमान कांग्रेस का विरोधी तो नहीं हुआ, परन्तु निजाऊट की जड़ में जो पान-हस्तक्षामी और अमु-स्लिम-प्रोही तथा भारत से बाहर बन्धन तोड़ने की प्रवृत्ति थी उसे हमारे ही हाथों पुष्टि मिली। भारत में फिर से हस्तक्षामी-राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा जाने लगा। आधे अलूतों को मुसलमानों के हवाले कर देने की भाँति राष्ट्रीय-मुसलमानों के आदर्श मौजाना मुहम्मद अली 'कांग्रेस के सम्भाषित के रूप में भाषण देने हुए' की थी। उस राष्ट्रीय-स्लिम मौजाना के मन में भारत की संरक्षित को चापा बँटवा लेने की, यही उस समय ही थी। मौजाना शौकतजली ने एक प्रतिद्वन्द्व भाषण में युक्त-राज्य से मुसलकी तक मुस्लिम राज्यों की शृंखला के स्वप्न का

वर्षों और व से किया। ये लोग राष्ट्रीय मुसलमान थे। श्रीमती तो सारे भारत को इस्लामी राज्य बनाना अपना कर्तव्य समझते थे। राष्ट्रीय और श्रीमती मुसलमानों में जिस वस्तु पर सदा एक मत रहा, और है, वह है 'उर्दू' या एतासत्य हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा बनवाना।

अराष्ट्रीय मर्म—सिद्धाफत ही की तरह हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने मुस्लिम-सृष्टि के विचार से फारसी-अरबी-मिश्रित हिन्दी बर्धात उर्दू का हिन्दुस्तानी नामकरण कर राष्ट्र-भाषा बर्द के लिए बसे स्वीकार किया। परन्तु जहाँ सबसे बड़ा कड़ा आता था कि प्रचलित विदेशी शब्दों का प्रत्यक्ष पुरा नहीं है, वहाँ फारसी लिपि को स्वीकार करने की बात किसी प्रकार संगत सिद्ध नहीं हो सकती थी। अतः स्पष्ट मानना पड़ता था कि मुसलमानों की दूसरी लिपि स्वीकृत नहीं है, इसलिए फारसी लिपि रखनी ही होगी। मुसलमानों की यह मर्ग उनकी ही अराष्ट्रीय की विवना बनका हो राष्ट्रीयता बाबा सिद्दाय्य और पाकिस्तान की मर्ग।

फिर भूल न करें—जब जब कि मुसलमानों का बज्जग राष्ट्र बन गया और उनकी संरक्षति की प्रतीक उर्दू वहाँ की राष्ट्र-भाषा बन गई, तब भी कुछ लोग फारसी लिपि बाबी, अरबी शब्द-संकुल हिन्दुस्तानी को भारत पर थोपने की बात कहते हैं वह भी इसीलिए कि मीखाना भाङ्गाद के सह-धर्मियों को भारतीय भाषा और लिपि सीखने से हंकार है। वह हंकार आज से नहीं सैकड़ों वर्षों से चलता आ रहा है। कुछ दिनों पहले युक्त-मान्त के मुसलमानों को हिन्दुस्तान से भी हंकार था। आखिर उन्होंने ही तो पाकिस्तान बनवाया। क्या उनकी इस दो राष्ट्रों बाबी नीति पर अवलम्बित भारतीय-राष्ट्रीयता के अस्वीकार करने की प्रवृत्ति को स्वीकार कर हम अपनी राष्ट्रीयता को बख पहुँचाने। सिद्धाफत के समय ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध मुसलमानों का सहयोग-लेने के लिए, उस के मुख्य-स्वरूप सिद्धाफत-आन्दोलन को उठा लेना, नीति-संगत कहा जा सकता था; परन्तु आज जब कि हम भारत में एक स्वतन्त्र लोक-संघीय निर्धर्म-राज्य का निर्माण कर रहे हैं तब एक



: २७ :

## भाषा का प्रश्न

( कवियर श्री सुमित्रानन्दन पन्त )

राजकल ओ अनेक समस्याएँ हमारे देश के सामने उपस्थित हैं जिनमें भाषा का प्रश्न भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। इधर पत्र-पत्रिकाओं में किसी-न-किसी रूप में इसकी चर्चा होती रहती है और इस संबंध में अनेक सुझाव भी देखने को मिलते हैं। इस प्रश्न के सभी विषयावली पदलू लोगों के सामने आगए हैं और इन पर बड़े प्रकाश भी डाला जा चुका है।

इस समय हमें आवश्यक धीरज, साहस तथा सदाब से काम करने की आवश्यकता है। भाषा मनुष्य के हृदय की कुंजी है, और किसी भी देश या राष्ट्र के संगठन के लिए एक अत्यन्त सरल साधनों में से है। विश्व-मानवता का मानसिक संगठन भी भाषा ही के आधार पर किया जा सकता है। वह हमारे मन का परिधान या लिबास है। उसके माध्यम से हम अपने विचारों, भावों, सत्य-मिथ्या के मायों तथा अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों को सरलता पूर्वक व्यक्त कर एक दूसरे के मन में बहन करते हैं। भाषा, संस्कृति ही की तरह, कोई स्वभावज्ञ सत्य नहीं, एक संगठित वस्तु है, जो विकास-क्रम द्वारा प्राप्त तथा परिष्कृत होती है। अगर हमारे भीतर भाषा का स्वर संगठित नहीं होता तो हम ओ-कुछ शब्द ध्वनियों या बिनि-संकेतों

कभी एक राष्ट्र का भारतीयता, समान्यता-अर्थात् भारतीय-संस्कृति-विशेष की प्रत्यक्ष प्रतियों के बावजूद जो खो गये हैं, उसकी पुष्टि के लिए भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति की आधार-भूत राष्ट्र-भाषा में समस्त लोक-जन का समावेश करना हमारे लिए बहुत बड़ी भूख होगी।

साम्प्रदायिकता से समझौता नहीं—हमें साम्प्रदायिकता की ओर उल्लास नहीं है। उद्दे भाषा साम्प्रदायिकता का भाव है। उसके साथ समझौता सम्भव नहीं है। जो चाहता है कि साम्प्रदायिकता हम देश से उठ जाय, वह उससे समझौता नहीं कर सकता। भारतीय मुसलमानों को हमें विश्वास के साथ देखने वाला समस्त राष्ट्र 'पाँचवाँ कायम' नहीं रहने देगा है। हमें उसे अपने ही जैसा पूर्ण भारतीय बनाना है। ऐसा वह तभी करेगा जब वह हिन्दी को स्वीकार कर लेगा।

अतः मेरी दृष्टि में हिन्दी और हिन्दुस्तानी का प्रश्न केवल भाषा का प्रश्न नहीं है, प्रत्युत देश-द्रोही-साम्प्रदायिकता को दूर-पूर्वक उखाड़ फेंकने अथवा दुर्बलता-पूर्वक उसके सामने विर मुकाने का प्रश्न है। भारतीय-संघ में जिनका देश जातु समाविष्ट है वह अनेक नहीं, एक है, अथवा होना चाहिये। भारत का सुसंयोजित भारतीय बनना ज़रूरी चाहिये, उसकी भावनाएं भारतीय हो जानी चाहियें, उसे भारत का सब-कुछ अपना खगना चाहिये। उसका मुक्त भारत के ऐतिहासिक से हटकर भारत की राष्ट्र-व्यापक भूमि की ओर रुख करना चाहिये। उसे अरबी के राष्ट्र छोड़ संस्कृत के राष्ट्र सीखने चाहिये। उसे पूर्ण अन्तर्गत ज़िपियाँ छोड़ देवनागरी लिपि सीखनी चाहिये। यदि वह दूर-पूर्वक ऐसा नहीं करता तो उसकी अविच्छाद रहने हुए भी राष्ट्रीय-  
जनता के एक-एक भाग को अन्तर्गत कर हमें एक

भाषा के साथ राष्ट्र-भाषा के वातावरण में भी बढ़ेगी और उसे भी भाषानी में सीख जेंगे।

आज तक हम सात समुद्र पार की विदेशी भाषा की लोटे की तरह रटकर साधर तथा शिथिल होने का अभिमान ढोते गए हैं। तब प्रांतीय भाषाओं के जीवन का प्रश्न हमारे मन में नहीं उठता था। आज जब राज-काज में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ग्रहण करने जा रही है तब प्रांतीय भाषा-भाषियों का विरोध इङ्गर्मी की सतह पर पहुँच गया है। धार्मिक सांप्रदायिकता के जाल से मुक्त होकर अब हम भाषा-संबन्धी सांप्रदायिकता की दकदक में डूबने जा रहे हैं।

सौभाग्यवश हमारी सभी प्रांतीय भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा रही है। दक्षिणी भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग बढ़ने लगा है। उत्तर भारत की भाषाएँ तो विशेष रूप से संस्कृत के सौष्ठव, भवनि-सौन्दर्य, तथा उसकी चेतना के प्रकाश से अनुप्राणित तथा जीवित हैं। अगर हम अपनी इङ्गर्मी से सब सके तो मुझे कोई कारण नहीं दीसता कि क्यों हम आज हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में एकमत होकर स्वीकार न कर सकें। अन्य प्रांतीय भाषाओं की तुलना में राशि (अनसंख्या) तथा गुण (सरलता, सुशोध्यता, उच्चारण-सुविधा आदि) की दृष्टि से भी हिन्दी का स्थान विशेष महत्वपूर्ण तथा प्रमुख है।

- हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी का प्रश्न इससे कुछ अधिक जटिल तथा विवादपूर्ण है। एक ओर दोनों की जनक-भाषाएँ आर्य मिन्न हैं। हिन्दी संस्कृत की संजान है। उर्दू-फारसी और अरबी की। फिर अभी हम दुर्भाग्यवश जिस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम संप्रदायों में विभक्त हैं, हमारे सांस्कृतिक, दृष्टिकोणों में भी सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाया है। फलतः हिन्दी और उर्दू को भी हम दो विभिन्न संस्कृति की चेतनाओं तथा उपादानों की वादक मानने लगे हैं। पर यह पुरानी दुनिया का इतिहास है। संसार में आज सभी आठियों,



बर्गों, समूहों या संघदायों में धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, व राजनैतिक आदि अनेक प्रकार की विरोधी शक्तियों का संघर्ष को मिश्रता है जो आगे चलकर आने वाली दुनिया में अधिक सामंजस्य ग्रहण कर सकेगा और मनुष्य को मनुष्य के अधिक से आपस में। भिन्न-भिन्न समूहों की अंतर्ध्वंसना के संघर्षों में सद्भाव तथा एकता स्थापित हो जायगी। इसे अनिवार्य आवश्यकताओं की समझना चाहिए।

हमें हिन्दी उर्दू को एक ही भाषा के—उसे आर्य पुस्तकों भाषा कहें—दो रूप मानने चाहिए। दोनों एक ही जगह पृथक् हैं। दोनों के व्याकरण में, वाक्यों के गठन, संशुद्धन में तत्प्रवाह आदि में पर्याप्त साम्य है—वद्यपि उनके ध्वनि-मीमांसा विभिन्नता भी है। साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक उर्दू एक भाषा की दो ओटियाँ हैं, जिनमें से एक अपने बिलाल में संस्कृत-वर्षों हो गई है, दूसरी फारसी-अरबी प्रभाव। और उनका बीच का बोझ-बार का स्वर ऐसा है जिसमें दोनों भाषाओं का प्रवाह मिश्रकर एक हो जाता है। हिन्दी-उर्दू के एक होने में बाधक के भीतरी शक्तियाँ हैं जो आज हमारे धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि संकीर्णताओं के रूप में हमें विविध कर रही हैं। अविष्य में हमारे राष्ट्रीय निर्माण में जो सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनैतिक शक्तियाँ काम करेंगी वह बहुत दूर तक इन विरोधों को मिटाकर दोनों संघर्षों को अधिक उन्नत और व्यापक मनुष्यत्व में बाँध देंगी। भीतरी कारण नहीं रहेंगे अपनी-पंक्ति ही कायेंगे।

इस समय हमारा केवल मानव-प्रयत्न इस दिशा में केवल इतना ही हो सकता है कि हम दोनों भाषाओं को मिश्राने के लिए एक वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकें। यह आधार हम समय-समय पर ही हो सकता है—और यह है मातृ-शक्ति। मातृ-शक्ति की शक्ति—

## कविवर भी मुमिश्शनन्दन पन्त

स्वीकार कर उसका प्रचार करना चाहिए। यही नीति हमारे शिक्षा-  
केन्द्रों की भी होनी चाहिए। हमें इस समय भाषा के प्रश्न को बल-  
पूर्वक सुझाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। केवल लिपि के आधार  
पर जोर देना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारती  
लिपि उर्दू से ही नहीं, संसार की सभी लिपियों से शायद अधिक  
सरल, सुबोध तथा वैज्ञानिक है और इसमें समानानुद्ध बड़े-मोटे  
परिवर्तन आसानी से हो सकते हैं।

भाषा का स्वयं जीवन लिपि का आधार पाकर अपनी रक्षा अपने-  
आप कर सकेगा। उसे अपने वाली पीढ़ियों अपने जीवन के रक्त से,  
अपनी प्रीति के आनंद से तथा स्वप्नों के सौन्दर्य से सामंजस्य प्रदान  
कर सकेंगी। यह मेरा अधिक स्वाभाविक नियमों से संवाञ्जित होगा।  
आज हम बलपूर्वक हिन्दुस्तानी के रूप में कृत्रिम और कुरूप प्रयत्न  
दोनों को मिटाने का कर रहे हैं। यह हमें कहीं नहीं ले जाएगा।  
क्योंकि ऐसे स्पष्ट प्रयत्न किन्हीं आंतरिक नियमों के आधार पर ही  
सफल हो सकते हैं। ऐसे बाहरी यत्नों से हम भाषा का  
व्यक्तित्व, उसका सौष्टव तथा सौन्दर्य बचाने के बड़े बिगड़ ही देंगे।  
भारतवर्ष के अन्य प्रांतों की भाषाओं के जीवन को सामने रखते  
हुए मैं सोचता हूँ कि हिन्दी-उर्दू का मेरा संस्कृत के ध्वनि-सौन्दर्य,  
रस-सौष्टव तथा व्यक्तित्व के आधार पर ही सफल हो सकेगा। किन्तु  
स्पष्ट प्रयत्नों के अभाव में भाषा का अपना भी जीवन होता है और अपने  
आप पीढ़ियों मधीन विकसित परिस्थितियों के आलोक में भाषा को  
किस प्रकार सँभारेंगी, यह अभी किसी गणित के नियम से नहीं  
कतजाया जा सकता।

## हमारी भाषा और लिपि की समस्या

( प्रो० ललिताप्रसाद मुखर्जी )

प्रश्न उठता है कि हमारी भाषा और लिपि का प्रश्न आज इतना उग्र क्यों हो उठा है ? एक-एक पर चादरखीप महारमा जी का नाम इस द्वन्द्व के साथ जुड़ा देखकर तो आश्चर्य की सीमा नहीं रहती । भारत की एकता आज खतरे में हो सकती है, परन्तु युगों से यह अनुपपन्न थी, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता । इतने बड़े देश के विशाल जन-समूह को युगों तक यदि संस्कृत भाषा ने एक सूत्र में बाँधकर रखा था, तो उसके बाद अन्य देशी भाषाओं ने भी अपनी-अपनी सीमाओं में अपने उत्तरदायित्व का समुचित निर्वाह किया था । उत्तर और दक्षिण की भाषाओं में 'कुल-भेद' होने हुए भी संस्कृत के परम्परागत प्रभाव ने उन्हें एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं होने दिया था । सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता के कारण आज से सदियों पहले भी भारतीयों का अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध कम घनिष्ठ न था । उस समय भी पारस्परिक व्यवहार के लिए मध्य-उत्तर-भारत की प्रचलित भाषा ही काम में आई जाती थी । इसका प्रमाण आज से लगभग १०० वर्ष प्राचीन कागज़-पत्रों से चला सकता है, जो आज भी जगन्नाथपुरी तथा रामेश्वर के कुछ पण्डितों के पास सुरक्षित हैं । यदि उस समय धार्मिक अथवा व्यावसायिक कारणों से हमें अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित

करने के लिए एक चालू भाषा की आवश्यकता पड़ी थी, तो आज प्रथमतः राष्ट्रीय सन्देश के प्रचार एवं विस्तार के लिए देश-व्यापिनी साधारण भाषा की आवश्यकता आ पड़ी है। भेद होना ही है कि आज का साठवर्षीय राजनीति, कूटनीति इत्यादि विविध मठ-मतान्तरों के विषम-वायु-मण्डल से दूषित है। किन्तु उस समय के लोगों की भावना अधिक पवित्र थी। प्रत्येक वस्तु का ग्रहण अथवा त्याग उसकी व्यापोगिता उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता पर निर्भर हुआ करता था।

भाषा बनाम धर्म—आज की भाषा-विषयक समस्या साम्प्रदायिक पक्षपातों के कारण और अधिक अटिक्त हो उठी है। आज प्रायः धर्म और संस्कृति की भाँट लेकर ही भाषा के प्रश्न पर विचार किया जाता है। भारतवर्ष सदा से धर्म-प्रधान देश रहा है। प्राचीन संस्कृति का प्रतिष्ठा वहीं के जीवन की विशेषता रही है। देश के अन्य नेता धर्म के प्रश्न से उदासीन रह सकते हैं; परन्तु भद्रेश महात्मा जी के जीवन में यह सदा से ही प्रमुख रहा है। भाषा और लिपि ही क्या, शायद राष्ट्रीय उद्योग के किसी पग पर भी उन्होंने धार्मिक चेतना को गौरव नहीं होने दिया। इस दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु धर्म के साथ उर्दू या हिन्दी को अनिवार्य रूप से जोड़ना कहीं एक न्याय संगत है, यह प्रश्न विचारणीय है।

सैकड़ों वर्षों से भारत के एक बड़े जन-समुदाय की विचार-धारा हिन्दी में ही प्रवाहित हुई है। मध्य-युग की सूर, गुलामी और कबी जैसे महात्माओं की वाणी धार्मिक उपदेश ही है तथा उनकी पूजा भी इसी प्रकार होती है, फिर भी हिन्दुओं की धार्मिक भाषा का यह आज भी देववाणी संस्कृत के द्वारा ही सुशोभित है। सभी पुरख काव्यों के अन्तर्गत पर मन्त्रोच्चारण संस्कृत में ही होता है। इसी प्रकार मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थ भी सब अनिवार्य रूप से अरबी में ही हैं और उन सभी धार्मिक हस्तों का प्रतिपादन अरबी के ही माध्यम से होता है। कुछ ॥ वर्षों पहले अरबी में लिखे गए कुरआन का उर्दू में अनुवाद

करना भी कुप्र से कम न था। हिन्दी में तो संस्कृत का प्राचीन साहित्य क्या धार्मिक और क्या अन्य—प्रायः सभी आ चुका है, किन्तु उर्दू तो आज भी इस्लाम के क्षेत्र में पूर्ण प्रवेश नहीं पा सकी है। काव्य-प्रधान उर्दू का साहित्य विचार-पारम्परा, काव्य-प्रणाली, एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लिए अरबी की अपेक्षा फ़ारसी का अधिक अच्छी है। आज के कुछ अनुवादों को छोड़कर प्रायः सारा उर्दू-साहित्य दर्शन अथवा अध्येत्य की अपेक्षा बुद्धिवाद से ही प्ररित है। किन्तु धर्म का मूल तो तर्क नहीं, विश्वास है। अतः उर्दू-भाषा या साहित्य के दामन में धर्म को या इस्लामी संस्कृति को बाँधना या हिन्दी के साथ हिन्दू धर्म का गठ बन्धन करना उचित नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्म एवं संस्कृति की सांख्यिक भाषना तो सुरक्षित रहनी ही चाहिए। न केवल हिन्दू या मुसलमानों ही के लिए, बल्कि अन्य सम्प्रदायों के लिए भी इसी नीति का अनुसरण होना चाहिए। राष्ट्र के नवनिर्माण में अनिवार्य शिक्षा का नियम ही होगा ही। उपर्युक्त उद्देश्य की वास्तविक पूर्ति के लिए यह आवश्यक होगा कि प्रारम्भिक शिक्षा-क्रम में ही हिन्दू बालकों के लिए प्राथमिक संस्कृत, मुसलमान बच्चों के लिए उनके धर्म-ग्रन्थों की भाषा का प्राथमिक ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाए। ऐसा करने से आगे चलकर अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार वे वास्तविक रूप से और बड़ सकेंगे, क्योंकि धार्मिक अथवा सांस्कृतिक संस्कारों का बीजारोपण तो हो ही मुड़ेगा। इस प्रस्ताव में शायद किन्हीं को दक्षिणान्तीयता की सूझ आए। परन्तु वेमों के लिए तो शायद धर्म की वर्षा भी दक्षिणान्तीयता से सखी नहीं। यदि बच्चों में धार्मिक प्रवृत्ति रखनी बाँझनीय है, तब तो उपर्युक्त प्रस्ताव के प्रतिनिधित्व और कोई व्यावहारिक निरापवाद मार्ग नहीं, क्योंकि हम प्रकार राष्ट्र के बच्चों में विविध धर्मों एवं संस्कृतियों के संस्कार तो जगमग होंगे ही, साथ-ही-साथ विविध मूल-भाषाओं का परिचय

उनके आधुनिक भाषा-ज्ञान की भोंव को भी अधिक सुरद करेगा । वह यह धारणा के अनावश्यक संशय भी दूर हो जायेंगे ।

राष्ट्र-भाषा का स्वरूप—भाषा से बीस वर्ष पहले राष्ट्रीय संघ के लिए राष्ट्र-भाषा की उपयोगिता के विचार काँग्रेस के द्वारा हिन्दी को राष्ट्र-भाषा माना गया था । इसके प्रचार तथा प्रसार में महात्माजी का बहुत बड़ा योग रहा है । शायद कोई भी ईमानदार व्यक्ति यह कह सकेगा कि भाषा के पीछे किसी प्रकार के दल अथवा पक्षपात का रेश भी न था । क्योंकि इसके प्रधान प्रवर्धक थे महात्माजी, जिनका मातृ-भाषा भी गुजराती । अतः हिन्दी के प्रति उनके पक्षपात या अविचल मोह का तो प्रश्न ही नहीं उठता । किंतु उन्होंने स्वाधीनता के युद्ध में गरमाहट आने लगी तथा स्वतन्त्रता के मन्दिर का शिखर—दूर से ही सही—दीख पड़ने लगा, त्यों-त्यों कितने ही निरदल लोग आकर राष्ट्रीय बनने वाले व्यक्ति भी काँग्रेस के पक्ष में हर्द-निश्चय कर देने लगे । अनेक व्यक्तियों में आता तो जेल के लठारे था, इसलिये तथाकथित रचनात्मक कार्यक्रम की ओर अपना सबल सीधा करना और भाषा जैसे अग्रगण्य निर्विवाद मसलों पर प्रयत्नवादी करना ही इन लोगों का पेशा हो गया । ऐसे ही हिन्दी आनंदिधर और उद्द से कोरे कुछ व्यक्तियों ने लगभग १९-२० वर्ष पहले की ईंट और कहीं के गारे से हिन्दुस्तानी भाषा बनाने के लिए एक संस्था गढ़कर अपनी 'मस्तिष्किक के कुन्ध' का पत्थर दिया था । यह पत्थर आगे तो भाषा की इसी नाम की दुरंगी भाषा के विचारों की संस्था के कर्णधार है । उन्होंने इसलिये ऐसा नहीं किया कि राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में उनका भाषा-विषयक यह कोई विचार प्रयोग था, बल्कि इसलिये कि यही एक मसला और यही एक भाषा उनके पहले पकी थी और महात्माजी के शब्दों में 'दिमागी तौर पर बहुत सुस्त' शायद वे ही, 'लेकिन अंगरेजी के बोक ने इनकी मानसिक शक्ति को बहुत पंगु बना दिया था' । जब सिरे से यह था वह भाषा

०५  
 ज्ञाना तो इनके जिएँ सामर्थ नहीं था, अतः इन्होंने मराठी का  
 ज्ञाना भाषा अगाधर और भाषा के 'स्टैबर्डाइजेशन' का अर्थ उठा-  
 र ही करने अथवा और और भाषा को 'स्टैबर्डाइज' करने का बोधा  
 दिया। 'जनि' जैसे शब्द को इबर्ली 'जनि' कहना या 'संस्कृत'  
 'गंधर्व' प्रयोगों का बाध करना उपयुक्त कथन के अर्थ  
 माना है।

बाध दिन उपदेश मुने जाने है कि हिन्दी-लेखकों को भाषा  
 मारत जिनको चाहिए। लेकिन इन उपदेशों ने कोई पूरे कि  
 कठिन किन्तु मार्ग भाषा जिनका क्या ऐसा माना कम है  
 कि निष्पत्ति ही कोई भी कठिन भाषा लिख सकना है और  
 मारत जिनके के लिए प्रयास करने की जरूरत है। कठिन और अर्थ-  
 बहुल भाषा लिखने के लिए चाहिए अथवा शब्द-भण्डार और गम्भीर  
 विचार-विवेचन की शक्ति। यह दोनों वास्तव में कठिन के पास होने  
 हैं। वही ही कोई अर्थ-भण्डार बड़े तो बाध दूसरी है। किन्तु साथ-  
 साथ मारत कुछ भी कहना हो, तो स्वभाव मार्ग हो अधिक सीधा  
 हुआ करता है। इसमें प्रयासपूर्ण दुस्वता का ही प्रयत्न नहीं उठा  
 है। सब बात तो यह है कि हिन्दी के लेखकों को सरलता का बाध  
 दिन उपदेश देने वाले थे व्यक्ति हिन्दी के साधारण ज्ञान से भी हीन  
 होते हैं, अतः हिन्दी की प्रत्येक कृति उन्हें कठिन ही जान पड़ती है।  
 इसका हलका ही क्या?

वही तो हिन्दी के ही समान हमारी भाषा का 'हिन्दुस्तानी' नाम भी  
 कई सौ वर्ष पुराना है अथवा के सम्बन्ध के लेखों से ज्ञात होता है कि  
 'वही' वाले भारत को 'हिन्द' तथा वहाँ की उत्तर-भारतीय भाषाओं  
 को 'हिन्दी' ही कहते थे। परन्तु तुर्कों ने 'हिन्दुस्तान' शब्द का अधिक  
 प्रयोग किया है। कुछ दिनों पहले तक तो अनेक हिन्दी के भाषा-तत्त्व-  
 वेत्ता भी समझा करते थे कि ग्रियर्सन ने ही शायद युक्त-प्राप्त की  
 उत्तर-परिचय की बोली के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया

था। किन्तु प्रागे चलकर डा० सुनोविहुमार चाटुर्ज्या ने एक प्राचीन व्याकरण के आधार पर सिद्ध किया कि उर्दू-मिश्रित उत्तर-भारतीय भाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग पोर्चुगीजों ने किया था। किन्तु इससे भी पहले सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बाबर ने अपने जीवन-चरित्र में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग देश की बालू भाषा के अर्थ में किया था। उस समय तो उर्दू का जन्म भी नहीं हुआ था। यह स्पष्ट है कि प्राचीन समय में भी प्रचलित हिन्दी के लिए 'हिन्दु-स्तानी' नामक प्रयोग होता था और उसमें फारसी या अरबी या अन्य विदेशी शब्दों की मिजाजर की शर्त नहीं थी।

एक बार गान्धी जी ने कहा था—“बहुत अर्सा नहीं हुआ, उत्तर-भारत के लोगों की भाषा एक ही थी। वह उर्दू और देवनागरी लिपियों में लिखी जाती थी।” ग्रामीण जनता बड़े-बड़े शब्दों की, चाहे वे फारसी से लिये गए हों चाहे संस्कृत से, परवाह नहीं करती। “वह (ग्रामीण जनता) जो भाषा बोलती है, केवल वही भारत की राष्ट्र-भाषा हो सकती है कि वह उसे सीखे।” महात्माजी के इस कथन से काफी हलचल मची। लोगों ने सन्देह प्रकट किया कि ‘समूची या केवल उत्तर-भारत की ही सारी ग्रामीण जनता’ कोई एक भाषा नहीं बोलती और न ग्रामीणों की भाषा या भाषाएँ इतनी समुन्नत हैं कि उनके आधार पर राष्ट्र-भाषा बनाई जा सके। पर यदि जरा गम्भीरता से विचार किया जाय, तो ये आश्चर्य अपने-आप मिट जाती हैं। साधारण व्यवहार में ‘भाषा’ और ‘बोली’ शब्दों का प्रयोग कुछ अनिश्चित-सा ही किया जाता है। अधिकतर तो इसके भेद को ठीक-ठीक जानते भी नहीं। यदि यह भेद स्पष्ट कर दिया जाय, तो गांधीजी के उपर्युक्त कथन की प्राचीन सत्यता अपने-आप प्रमाणित हो जाती है। यदि सिद्धान्त रूप से देखा जाय, तो भाषा बहुत अधिक व्यापक संज्ञा है, जिससे समान-रूप वाली विविध बोलियों के समूह का ज्ञान होता है—अर्थात् प्रत्येक भाषा का संगठन समान-रूप वाली कई



बोलियों तथा उपबोलियों को लेकर ही होता है। समान-रूपता के प्रधानतः तीन आधार होते हैं—शब्द-ग्रन्थन तथा उच्चारण। जिन बोलियों में इन तीनों अंगों की उचित समानता दोस्त पड़ती है, वे स्वभावतया एक समूह के रूप में संगठित हो जाती हैं। इसी समूह को भाषा की सत्ता दी जाती है।

इस दृष्टिकोण से समझने में देर न लगेगी कि उत्तर-भारत की ग्रामीण जनता सचमुच एक ही भाषा-सूत्र में बँधी हुई है। बोलियों विविध एवं विभिन्न अथर्व हैं, किन्तु सामूहिक रूप से एक ही भाषा के सूत्र से गुँथी हुई हैं। यही कारण है कि ब्रज-मण्डल या राजपूताने का निवासी अवधी के क्षेत्र में जाकर भी अपनी बात कहने में या दूसरे की समझने में विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं करता। भले ही वह अवधी बोली में बोल न सके, या अवधी वाक्या ब्रज-मण्डल की बोली में बोलने में असमर्थ हो; परन्तु इनका पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान सुगमता से हो जाता है। इसी व्यावहारिक सत्य के आधार पर हिन्दी को भाषा कहा जाता है, क्योंकि इसमें अवधी, ब्रजभाषा, राजस्थानी, बाघेली, गुज्जरी इत्यादि कितनी ही बोलियाँ सम्मिश्रित हैं। उद् भी इसी के अन्तर्गत एक बोली ही है, क्योंकि इसका अपना कोई पूरक बोली-समूह नहीं है। इसी से इसे हिन्दी की एक शैली एवं बोली कहा गया है और फिर, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, 'बोली' और 'भाषा' का पारस्परिक अद्भुत सम्बन्ध है। भाषा से किसी विशिष्ट आदर और बोली से निरादर की सूचना की आसंका करना अनावश्यक अर्थ है। हिन्दी और उद् के इसी सम्बन्ध के आधार पर तो राष्ट्र-भाषा की मिति लगी है। शब्द-ग्रन्थन, शब्द-ग्रन्थन एवं उच्चारण की समानता इस भाषा का बड़ा बल है।

अब प्रश्न आता है कि इन विविध बोलियों की अनुमत्त अवस्था। यह शंका भी निराकार है, क्योंकि आज तो राष्ट्र की एक साधा-

रण भाषा की आवश्यकता है; प्रधानतः अन्तर्ग्रन्थीय विचार-विनिमय के लिए, राष्ट्र-सन्देश के प्रचार और प्रसार के लिए । विविध प्रांतीय भाषाओं के शुद्ध अस्तित्व को न छूने की नीति का अभिप्राय ही यह था कि उन्मत्कोटि के साहित्य की रचना मनुष्य अपनी मातृ-भाषा में ही कर सकता है; अतः उस ओर सबको समान अवसर मिलना ही चाहिए । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र-भाषा से तात्पर्य एक प्रकार की 'सरकारी भाषा' से ही है । निःसन्देह ऐसी भाषा का सकल संगठन प्रचलित शक्तियों के आधार पर ही हो सकता है । लेकिन इस प्रकार से संगठित हमारे राष्ट्र की 'सरकारी भाषा' की रूपरेखा भी निश्चित हो होनी ही चाहिए ।

लिपि की समस्या—यह प्रश्न है लिपि का । भारतीय शिक्षा में लिपि का प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं है, और विशेषकर जब कि इसके साथ भी धर्म और संस्कृति का अस्तिव्य जुड़ा हो । इस ओर सारी कसौटी से वैज्ञानिकता की ही होनी चाहिए; किन्तु वर्तमान वातावरण उसके अधिकृत ज्ञान पक्ष है । फिर इस सम्बन्ध में तो एक तरह से निर्णय भी हो चुका है कि भारतीय राष्ट्र देवनागरी तथा फारसी दोनों लिपियों को समान रूप से स्वीकार करना है और प्रत्येक सरकारी कार्यवाही दोनों ही लिपियों में सुचारु होगी । और उन्मत्कोटि की एकरा का स्वाभाविक निष्कर्ष ही यह होगा कि दोनों लिपियों में इबारत एक ही होगी । यही उचित भी है ।

लेकिन अब प्रत्येक व्यक्ति क लिप् दोनों लिपियों का जानना क्यों अनिवार्य होना चाहिए ? जब इबारत एक ही होगी, तब क्या एक लिपि के जानने से काम न चलेगा ? दोनों लिपियों के जानने का आग्रह तो कुछ ऐसा ही है, जैसे कि विख्यात वैज्ञानिक स्पूरन के विषय में प्रसिद्ध है । उसकी एक बिल्की थी, जिसे वे बहुत अधिक प्यार करते थे । बिल्की ने कच्चे दिये और प्राकृतिक विषमालुसार कभी-कभी वह उन कच्चों को बाहर भी उठा ले जाती थी । वापस

घाने का उमड़ा कोई निरिक्तन समय नहीं था। सप्त-वे-नक्त घाघर  
 सह धीर बच्चे बन्द दरवाजा मोड़ने की चेष्टा किया करते थे। धन-  
 एव उमड़ी सुबिधा तथा अपनी शान्ति के विचार में स्पूटन ने दर-  
 वाजे में छेद बनवाने का निरन्तर किया। बड़ों की पुत्रवाधर उन्होंने  
 कहा कि दरवाजे में दो छेद बनाओ—एक छोटा धीर एक बड़ा, ताकि  
 बड़े छेद से बड़ी बिल्ली भीतर आ सके और छोटे-से-छोटे बच्चे।  
 बड़ों इस आदेश से असमंजस में पड़ गया और डरते-डरते हमने  
 पूछा—‘क्या बड़े छेद से छोटे बच्चे भी घाघर नहीं आ सकेंगे?’ वह  
 सुनते ही स्पूटन की अपनी मूक जात हुई और जोर से हँसते हुए  
 उन्होंने कहा—‘माई, तुम ठीक ही कहते हो। एक से ही काम  
 चला जाएगा।’

महान् व्यक्तियों की मूर्खों भी असाधारण हो हुआ करती है।

: २६ :

## हमारी भाषा

( प्रो० हंसराज अग्रवाल )

यह हिन्दू का दुर्भाग्य है कि 'हमारी भाषा' के प्रश्न ने भी यहाँ पर जटिल रूप धारण कर रखा है। यदि कोई जापान, इंग्लैण्ड, फ्रांस अथवा रूस आदि देशों में इस प्रकार का विषय लेकर अपनी सेखनी को उठावे तो पत्रक बसकी बुद्धिमत्ता का उपहास उड़ायेंगे, और वहाँ का क्षेत्रक क्षिप्तैशः भी गया ? क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि जापान की भाषा जापानी, इंग्लैण्ड की अंगरेज़ी, फ्रांस की फ्रांसीसी और रूस की रूसी है। किसी को इसमें मतभेद नहीं है; परन्तु अंगरेज़ी सरकार की नीति ने हिन्दू में इस प्रश्न की जटिल-से-जटिलतर और जटिलतर-से जटिलतर बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। "मर्जे बदला गया क्यों-उपों दिया की"। सैकड़ों नहीं हजारों पृष्ठ इस विषय पर पुस्तक-पुस्तिकाओं, पत्र-पत्रिकाओं में लिखे जा चुके हैं; तो भी अनेक कारणों से, इस विषय को नवीनता उसी प्रकार बनो हुई है। इन कारणों के पीछे भी एक इतिहास है।

एक समय था, जब भारत में संस्कृत-भाषी बोलती आती थी। शनैः-शनैः उसका स्थान अलग-अलग प्रांतों में अलग-अलग प्राकृतों ने ले लिया। प्राकृतों का स्थान शनैः-शनैः देली भाषाओं ने ले लिया। प्राचीन काल में हम सभ्य-ग्रन्थ की वर्तमान भाषा को 'भाषा' कहकर

पुछाते थे। 'भाषा' का साधारण अर्थ है "भाष बोझी जाने वाली।" मुसलमानों ने उस समय जब भाषा को "हिन्दवी" और "हिन्दी" का नाम दिया और हिन्दुओं ने वही उदाहरण से उमी नाम को स्वीकार कर लिया। राजनीतिक क्षेत्र में, हिन्दू-मुसलमानों में जाड़े मोर विरोध रहा हो, पर साहित्य-क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों में वास्तविक एकता थी। चार सौ से अधिक मुसलमान कवियों और लेखकों ने हिन्दी की आत्म-नीय सेवा की है। हिन्दी-साहित्य का कोई भी विद्यार्थी मुसलमानों की हिन्दी-सेवा की उपाय नहीं कर सकता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तो यहाँ तक लिखा है कि इन मुसलमान कवियों पर आगों हिन्दुओं को न्योझावर किया जा सकता है। हिन्दी उस समय हिन्दू की राष्ट्र-भाषा थी। हिन्दुओं और मुसलमानों को—सबको इस पर गर्व था।

परिस्थितियाँ बदलतीं। पराधीन भारत पर लार्ड मैकाले की शिष्टा-नीति का जादू चलता। "भेद डालकर राज्य करो (Divide and-rule)" की नीति के अनुसार साम्प्रदायिकता के विपक्षे धीम-धपन किये गए। बट-बूट के बीज की भाँति यह बातें दिशाओं में खूब फैला-हुआ। परिणाम-स्वरूप भाषा का क्षेत्र भी इसके अर्थकर प्रभाव से बच न सका।

ध्यान देने की बात है कि भाषा का सम्बन्ध देश और प्रान्त से बना करता न कि जाति-विरोध से। सब बंगालियों की प्रांतीय भाषा बंगाली है, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। सब गुजरातियों की प्रांतीय भाषा गुजराती है, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। इसी प्रकार सब मराठों की प्रांतीय भाषा मराठी है, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। इस सिद्धान्त के निर्विवाद होने पर राजनीतिक कारणों से प्रचार किया गया कि सब मुसलमानों की अपनी भाषा उर्दू है, और हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है। भोले-भाले मुसलमानों को यह बताने की कुरसूत कहाँ थी कि हिन्दू से बाहर भी सब मुसलमानों की भाषा एक नहीं है। भारत में आरसी, चरब में चरबी, तुर्किस्तान में

मुर्कों और अफ़ग़ानिस्तान में अफ़ग़ानी आदि भाषाएँ बोझते हैं। हिन्द की भाषा को स्वयं मुसलमानों ने (सबसे पहले सुसरो और जापसी ने) हिन्दी का नाम दिया और अब तक वे इसी भाषा को बोझते आये। परन्तु साम्प्रदायिकता के विपरीत प्रभाव के कारण बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, यहाँ तक कि दूर-दक्षिण तक के मुसलमानों ने यही कहना आरम्भ किया कि 'हमारी भाषा उर्दू है', चाहे उर्दू का 'काज़ी' अगर उनके लिए मौल बराबर हो क्यों न हो ?

वात स्पष्ट है, जिस प्रकार अरब की भाषा अरबी, फ़ारस की फ़ारसी और जापान की भाषा जापानी कहलाती है, उसी प्रकार हिन्द की भाषा का वास्तविक नाम "हिन्दी" हो हो सकता है। इतिहास बतलाता है कि हमारी भाषा को "हिन्दी" का नाम दिया भी मुसलमानों ने है। यह सब-कुछ होते हुए भी हमारे राष्ट्रादी नेता साम्प्रदायिकता की लहर में बह गए और मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने प्रचार आरम्भ किया कि 'हिन्द की राष्ट्र-भाषा न संस्कृत-मिश्रित हिन्दी है, न अरबी-फ़ारसी-मिश्रित उर्दू'। यह तो सरल हिन्दुस्तानी है, जिसमें सरल हिन्दी और सरल उर्दू के शब्द पाये जाते हैं और जिसे सब भारतीय आसानी से समझ सकते हैं।

हिन्द की भाषा 'हिन्दो' का यह नाम-संस्कार क्यों ? क्या हिन्दु-स्तानी नाम अधिक सरल है ? तो फिर अफ़ग़ानिस्तान वाले अपनी भाषा को अफ़ग़ानिस्तानी और बिलोचिस्तान वाले अपनी भाषा को बिलोचिस्तानी क्यों यहाँ कहते ? क्या किसी हिन्दी-भाषी ने कभी यह कहा है कि "हमारी राष्ट्र-भाषा का आदर्श स्निग्ध संस्कृत-मिश्रित हिन्दी है।" हिन्दी-जगत तो मुन्शी मेमबन्द जी की हिन्दी को आदर की दृष्टि से देखता है। मुन्शी मेमबन्द की हिन्दी आज इण्डिया रेडियो से भले ही सरल हो, परन्तु हमारे आज-इण्डिया-रेडियो की तो अपनी भाषा को हिन्दुस्तानी कहने में ही आनन्द आता है।



जापानी, रूसी, फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग, जब कि इनके स्थान पर हिन्दी के सरल शब्द विद्यमान हैं; नितान्त हानिकर है।

“विदेशी भाषाओं का जितना अंश हमारी भाषा में शेष रहेगा, उतना ही हमारी संस्कृति के लिए घातक होगा।” हमारे मान्य-मेठाओं को इस पर भली प्रकार विचार कर इसे सम्मान दिखाना चाहिए और वह भी साहस के साथ।

पंजाब की समस्या—कुछ शब्द पंजाब की समस्या के विषय में भी। संयुक्त-पंजाब प्रांत में कुल २६ जिले थे, जिनमें आम्बाला दिवीजन के सारे जिले तथा कांगड़ा और गुरदासपुर के पहाड़ी-प्रदेश हिन्दी-भाषी थे। तथा शेष २१-२२ जिले पंजाबी-भाषा। उस समय पंजाब को प्रांतीय भाषा उद्घोषी। पंजाबी-भाषियों तथा हिन्दी-भाषियों की ओर से अनेक आंदोलन होने पर भी हिन्दी-पंजाबी की समानता का अधिकार प्राप्त न हो सका। पंजाब के बदलने के बाद परिस्थिति सर्वथा बदल गई। पूर्वी-पंजाब के १२ जिलों में ७ जिले हिन्दी-भाषी हैं और केवल ५ जिले पंजाबी-भाषी। जैसे हिन्दी-भाषी जिलों में पंजाबी बोलने वाले भी काफ़ी संख्या में हैं, वैसे ही पंजाबी-भाषी जिलों में हिन्दी बोलने वालों की संख्या बहुत है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी और पंजाबी में पारस्परिक विरोध नहीं है। दोनों संस्कृत की पुत्रियाँ हैं और उनमें आपस में बहुमों-जैसा प्रेम होता ही चाहिए। गुरु नानक तथा गुरु गोविंदसिंह जी की वाणी की पंजाबी-भाषी बड़ी धन्य और भक्ति से पढ़ते हैं तथा हिन्दी-कान्य में उसे विशेष आदर का स्थान देते हैं जो इन बहनों को आपस में खड़ना अथवा इनमें फूट डकड़ाना चाहते हैं, उनकी इसमें कोई हूटनीति है, यदि हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए। हिन्दी और पंजाबी का खोत एक ही होने के कारण इनकी संज्ञाएँ, सर्वनाम, विशेषण तथा अनेक क्रियाएँ आपस में मिलती हैं, बल्कि समान ही हैं। ऐसी अवस्था में स्थिति



स्पष्ट है कि पंजाब में प्रारम्भिक शिक्षा हिन्दी अथवा पंजाबी में बाज़कों के इच्छानुसार हो। चौथी-पाँचवीं श्रेणी से प्रत्येक विद्यार्थी के त्रिपु दूसरी भाषा का पढ़ना भी आवश्यक हो। प्रत्येक सरकारी नौकर के त्रिपु हिन्दी और पंजाबी दोनों भाषाओं का जानना आवश्यक हो और कचहरियों तथा दफ्तरों में सबको दोनों भाषाओं के व्यवहार की सुविधा हो।

पंजाब-विरक्ताविद्यालय ने पंजाबी-भाषा को सर्व-प्रिय बनाने के त्रिपु परीक्षार्थियों को यह सुविधा दी थी कि वे अपने उत्तर गुस्मुखी, फारसी अथवा देवनागरी, किसी भी लिपि में लिख सकते थे। अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि पंजाबी के प्रचार में इस सुविधा से बड़ा लाभ पहुँचा है। तदनुसार प्रारम्भिक श्रेणियों के छात्रों को यह सुविधा होनी चाहिये कि वे मागरी अथवा गुस्मुखी लिपि को इच्छानुसार अपना सकें। पंजाब-निवासियों को उचित है कि वे इस प्रश्न पर शुद्ध-सात्विक दृष्टिकोण से, शान्ति-पूर्वक विचार करें, जिसमें कि हमारा प्रान्त दूसरे प्रान्तों के मुकाबले में गर्व के साथ अपना 'मस्तक' उभार कर सके। इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता की कटुता जानने से तो हमारी हानि-हो-हानि है। प्रभु हमें सद्-बुद्धि प्रदान करे।

## हिन्दुस्तानी की मर्यादा क्या है ?

( माननीय धनस्यामसिंह गुप्त )

हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू का विवाद जनता का ध्यान अब स्वभावतः अधिक आकर्षित कर रहा है। पूर्व-संचित भावनाओं के कारण और भाषों के बीड़े चखने के कारण, इस विवाद में विचार का कुछ अभाव दीखता है। इस विषय पर भाषेयों को छोड़कर मुक्ति से ही विचार किया जाय तो अच्छा हो। विवाद, भाषा और लिपि दोनों के सम्बन्ध में है। इस छोटे से क्षेत्र में भाषा के सम्बन्ध में ही विचार किया जायगा। सम्भव है कि इससे लिपि के विषय में विचार करना आवश्यक हो जाय।

हिन्दुस्तानी की परिभाषा में इस प्रकार कहेंगे—वह भाषा जिसमें हिन्दी और उर्दू का भेद नहीं रह जाता, जिसमें दोनों कुछ-मिश्र कर एक हो जाती है। यद्यपि किन्हीं-किन्हीं स्थानों में इसकी शब्दावली में भेद रहता है। पंजाब और दिल्ली की हिन्दुस्तानी में मध्यप्रदेश की अपेक्षा अधिक उर्दू शब्द होते हैं। छत्तीसगढ़ में तो उर्दू शब्दों का घेरा रहता है। यह हिन्दुस्तानी उन-उन स्थानों की बोली-पाल की भाषा है। ब्रिटिश-राज्य-सत्ता के कारण, उच्च शिक्षा, कानून अदालत आदि की भाषा अंग्रेजी रही है। यहाँ तक कि कैबिनेट के प्रस्ताव भी प्रायः अंग्रेजी में ही हुआ करते थे। अब:



अर्थ को जानने के लिए उसे धोखना, फसल करना न पड़े, किन्तु स्वयं शब्द ही बता दे कि उसका असुक्त अर्थ है। यथा पाठशाळा स्कूल अपने अर्थ को नहीं बताता। सुसंस्कृत सार्वक शब्द भावी विद्यार्थी के मानसिक और बौद्धिक उन्नति में साधक होगा और प्रत्येक असंस्कृत अनर्थक शब्द उसको भार रूप होगा, चाहे वह आज हमारे लिए जितना भी परिचित और सहज क्यों न हो।

यह छोटा-सा लेख खम्बा न हो इस गरज से मैंने केवल मुद्दे की बातें ही लिखी हैं और उन सबके उदाहरण नहीं दिये हैं। कावेज की पढ़ाई के लिए वैज्ञानिक शब्दावली बनाने का कार्य देखने का मुझे मौका मिला और चरनी विद्यान-सभा (असेम्बली) के लिए शब्दावली बनाने का कार्य मुझे स्वयं करना पड़ा। इससे मैं निम्न परिणाम पर पहुँचा हूँ।

(१) हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू का मिश्रण और यदि साक्षात्-जनिक शब्द के प्रयोग के लिए जमा मिले तो कहींना, हिन्दी-उर्दू का बोल, साधारण जनता की बोल-बाख की भाषा है और रह सकती है। इसका शब्द-भण्डार सीमित है। मेरे अन्दर से दो हजार शब्दों से भी कम है। यह उच्च शिक्षा, कानून और प्रबन्ध की भाषा नहीं हो सकती, जिसके लिए छात्रों का शब्द-भण्डार आवश्यक है। इस बहुतही आवश्यकता को पूरा करने के लिए हिन्दुस्तानी को बदलने की धारणा उसे ही प्रत्यक्ष कर देगी, जिस प्रकार कि बच्चों के कुमो को मर्यादा से अधिक बढ़ाने के बल में वह फूट जाता है। एक ही लक्ष्य जिनके कारण हिन्दुस्तानी का रण नाश जाता है, अर्थात् उसकी साक्षरता साधारण जनता की समझ में आना वह समाप्त हो जायगी। दो हजार से छात्रों का शब्द-भण्डार बनना और यह फिर हिन्दुस्तानी, हिन्दी-उर्दू का मिश्रण दौलती रहे, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि अल्पपरिचित शीलि से एक शब्द हम संस्कृत से लें और दूसरा धरवी या पारसी से (बीजक के लिए 'वैय' को आर्येय के लिए "मुञ्जिकरुष

अंग्रेजी के अपने विस्तृत क्षेत्रों से बचे-बुचे क्षेत्रों में ही हिन्दुस्तानी काम होता था। यथा-साधारण बोल-चाल, व्यापार और साधारण पुस्तकें। इन सब कामों के लिए हिन्दुस्तानी पर्याप्त होती थी। उससे ये सब काम भली प्रकार से निकल जाने थे। विशिष्ट शास्त्रावली के प्रयोग की आवश्यकता न होने से हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के वास्तविक विवाद का कोई प्रमाण ही न था।

हमारा राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद यह स्वाभाविक इच्छा होने लगी कि अंग्रेजी भाषा के साम्राज्य का भी अन्त दिया जाए, और उसका स्थान अपनी भाषा को मिले। इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि जहाँ अब हमारी भाषा बोल-चाल की थी और त्रिगकी शास्त्रावली में अन्तर्धान में हो हजार शब्दों में अधिक नहीं थी, वहाँ अब उसे उच्च शिक्षा, विज्ञान, कानून और विधान आदि की भाषा भी होना है, त्रिगके लिए लाखों शब्दों का शास्त्रावली अनिवार्य है। त्रिगमें मूल्यम विचारों में भेद दिखाने वाले शब्दों का आवश्यकता है। यथा—देश और इच्छा में, बलागच्छ, बयोरारु और बलोरु में, पैनगरी, पनिरामें और पनिरामें और हजारों ऐसे नुबरे शब्दों में।

इसमें यह भी समझ लेना है कि हमारा प्रयत्न आज के लिए नहीं, बल्कि भारी समझना के लिए है और हम यह करना है जो उनकी सम्मति में साधक हो, बाद यह आज हमारे लिए अनिवार्य न हो और बाद हमारे हमारा आजनामा पर कुछ आपात भी पड़ना हो। यह भी देखना है कि हमारा अन्तर्गत भी ऐसा हो, जो आज अनिवार्य की अन्य भाषाओं की भी समझ ले ले पाए हो उनके यथा मराठी, बंगाली, नेपल आदि जो कि सब-की सब या तो संस्कृत में पैदा हुए हैं या संस्कृत-प्रभु हैं। इसमें यह भी देखना होगा कि हमारे अन्तर्गत ऐसे ही त्रिग तदर्थ और अनुमान शब्द मरचना में बन हैं। कई स्थानों में तो इनका अन्तर्गत पश्चिम होगा है। इसमें यह भी है कि हमारे अन्तर्गत अपने स्वयं बोलक हो। किसी शब्द के

अर्थ को जानने के लिए उसे धोखना, कण्ठ करना न पड़े, किन्तु स्वयं शब्द ॥ बता दे कि उसका अमुक अर्थ है। यथा पाठशाला स्कूल अपने अर्थ को नहीं बताता। सुसंस्कृत सार्वक शब्द भावी विद्यार्थी के मानसिक और बौद्धिक उन्नति में साधक होगा और प्रत्येक असंस्कृत अनर्थक शब्द उसको भार रूप होगा, चाहे वह आज हमारे लिए कितना भी परिचित और सहज क्यों न हो।

यह छोटा-सा लेख क्रमशः न हो इस गरज से मैंने केवल सुरे की बातें ही लिखी हैं और उन सबके उदाहरण नहीं दिये हैं। कावेज की पढ़ाई के लिए वैज्ञानिक शब्दावली बनाने का कार्य देखने का मुझे मौका मिला और अपनी विधान-सभा (असेम्बली) के लिए शब्दावली बनाने का कार्य मुझे स्वयं करना पड़ा। इससे मैं निम्न परिणाम पर पहुँचा हूँ।

(१) हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू का मिश्रण और यदि रासायनिक शब्द के प्रयोग के लिए जमा मिले तो फहूँगा, हिन्दी-उर्दू का बोझ, साधारण जनता की बोझ-बाझ की भाषा है और रह सकती है। इसका शब्द-भण्डार सीमित है। मेरे अन्दाज से दो हजार शब्दों से भी कम है। यह उच्च शिक्षा, कानून और व्यवस्था की भाषा नहीं हो सकती, जिसके लिए शब्दों का शब्द-भण्डार आवश्यक है। इस महती आवश्यकता को पूरा करने के लिए हिन्दुस्तानी को बढ़ाने की चारथा उसे ॥ ग्राम कर देगी, जिस प्रकार कि बच्चों के कुमो को मर्यादा से अधिक बढ़ाने के धन में वह फूट जाता है। एक ॥ लक्षों जिसके कारण हिन्दुस्तानी का राग गायब जाता है, अर्थात् उसकी सर-कता साधारण जनता की समझ में आना यह समाप्त हो जायगी। दो हजार से शब्दों का शब्द-भण्डार बनना और यह फिर हिन्दुस्तानी, हिन्दी-उर्दू का मिश्रण दीखती रहे, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि अभ्यवस्थित रीति से एक शब्द हम संस्कृत से लें और दूसरा अरबी या फारसी से (जोगल के लिए 'वैय' को अंग्रेज के लिए "मुचलिफ़्ट")

एकान' करेंगे।) यह शब्द माकी-पन्तान के लिए मर्चाया नये, धँक और कठिन होंगे, और अरबी से बने हुए होने के कारण हमारे मायाओं से, जिनकी जननी संस्कृत है, अयम्बद होंगे। हमारे मायाविचारियों के लिए मार-रूप होकर उनकी बुद्धि को धीरे-धीरे अक्षय से, परन्तु निरक्षय-पूर्वक दोधी बनाने का कार्य करते रहेंगे।

(२) हिन्दुस्तानी की उपरोक्त मर्यादा को यदि हम ध्यान में रखें तो यह हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा भी बन सकती है, किन्तु साधारण जनता के लिए बोझ-साध के लिए।

(३) उच्च-शिक्षा, कानून और प्रबन्ध आदि की भाषा या तो (अ) हिन्दी: प्रायः संस्कृत-जन्य या (ब) उर्दू: प्रायः अरबी-फारसी-जन्य या अंगरेजी हो सकती है। इसके विवाय दूसरा कोई भाषा नहीं, और जब हमें इन तीनों में से एक चुनना है तो हममें कोई सन्देह नहीं रहना कि वह हिन्दी ही होगी।

## कहाँ क्या ?

१. डाक्टर राजेन्द्रमसाद	१०
२. राजर्षि दुरुषोत्तमदास उपरान	२०
३. श्री सम्पूर्णानन्द	३०
४. डाक्टर सुनीतिकुमार चादुर्ग्या	३४
५. श्री कन्दैवाजाज गायिकन्वाज सुन्धी	३८
६. सम्पादकोपायै अम्बिकमसाद कात्रपेयी	४३
७. मदासपिडव साहुज साहूयवापन	४६
८. डाक्टर अमरनाथ झा	५०
९. श्री बाबूराव विष्णु पराङ्कट	५४
१०. डाक्टर भगवानदास	५४
११. लेड गोविन्ददास	८४
१२. श्री विद्योनी, हरि	८९
१३. श्री मरुम्भ जानम्द बीण्णवायव	१०४
१४. डाक्टर बीरेन्द्र वर्मा	११०
१५. श्री बाबूहम्प वर्मा 'बबीन'	१२२
१६. श्री० गुडाबराय	१२०
१७. डाक्टर मैथिलीश्वर गुड	१२२





